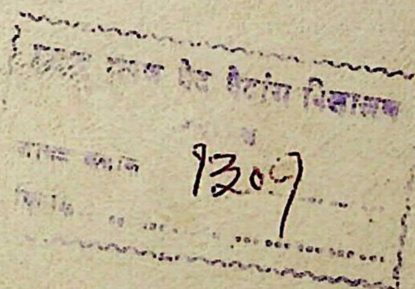
कुछ देखा : कुछ सुना

घनश्यामदास बिड़ला

•

H. Ae. 98

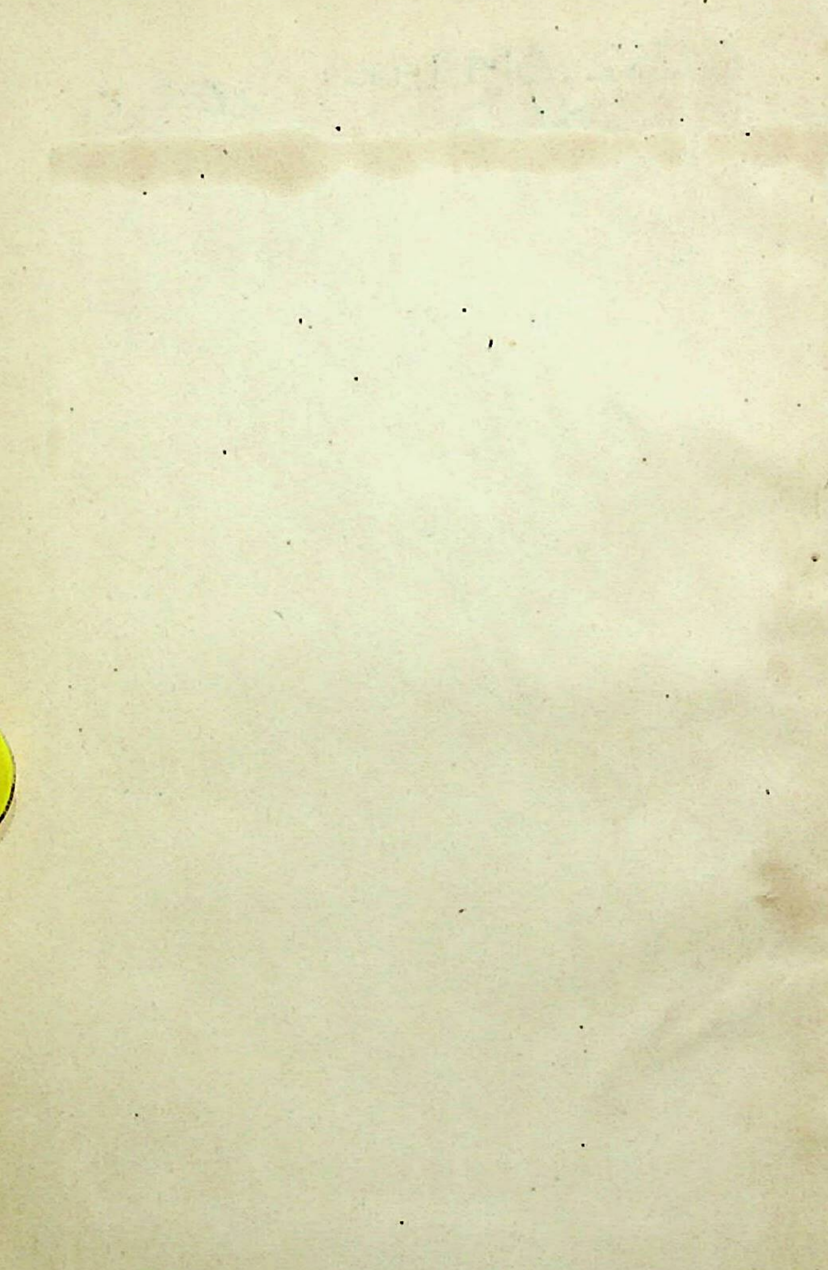


0152,6M94x
K6;2

0152,6M94x 2002
K6;2

O152,6M94x
K6;2 2008

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।



सत्साहित्य प्रकाशन

कुछ देखा, कुछ सुना

घनश्यामदास बिड़ला

१९६६
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

0152,6M94x
K6;2

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९६६

मूल्य
तीन रुपये

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
वाराणसी।
आगत क्रमांक.......2008.........
दिनांक........................
संशोधित मूल्य

मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
क्वीन्स रोड, दिल्ली-६

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक से हिन्दी के पाठक भली भाँति परिचित हैं। मंडल से उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। 'गांधीजी की छत्रछाया में', 'डायरी के पन्ने', 'बापू', 'रूप और स्वरूप', 'ध्रुवोपाख्यान' आदि सभी पुस्तकें लोकप्रिय हुई हैं और उनमें से कुछ के तो कई-कई संस्करण हो चुके हैं।

हमें हर्ष है कि लेखक की यह नई पुस्तक पाठकों को सुलभ हो रही है। इसके कुछ संस्मरण तो विभिन्न पत्रों में निकल चुके हैं, लेकिन 'वे दिन', 'मेरा शिक्षण' आदि हाल ही में लिखे गये हैं।

लेखक की लेखन-शैली के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। वह अत्यन्त प्रवाह और प्रभावपूर्ण है। प्रायः सभी रचनाएँ इतनी मार्मिक हैं कि पाठक आरंभ करके उन्हें बिना समाप्त किये नहीं छोड़ सकता।

पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने बड़े-से-बड़े से लेकर छोटे-से-छोटे व्यक्ति तक पर लेखनी चलाई है। एक ओर पाठकों को गांधीजी, नेहरूजी, ठक्करबापा प्रभृति के संस्मरण पढ़ने को मिलेंगे तो दूसरी ओर उनका साक्षात्कार 'हीरा' और 'नाहरसिंह' जैसे व्यक्तियों से भी होगा।

हम आशा करते हैं कि इस पुस्तक का सभी क्षेत्रों में स्वागत होगा।

—मंत्री

विषय-सूची

कुछ देखा, कुछ सुना

: १ :

वे दिन

संवत् १९५१ की रामनवमी के दिन मेरा जन्म हुआ। मेरे पिताजी का बानवे वर्ष की आयु में शरीर गया और मेरी माता निन्नानवे वर्ष की अभी भी जीवित हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि दीर्घ आयु के इच्छुक को चाहिए कि जनमने से पहले ही लम्बी आयुवाले माता-पिता का चुनाव करे, या तो लम्बी आयु की अभिलाषा छोड़ दे। बतानेवालों ने यह नहीं बताया कि जनमनेवाला जनमने के पहले माता-पिता का चुनाव कैसे करे। पर कहनेवालों का तात्पर्य यह है कि दीर्घजीवी माता-पिता की संतान भी अक्सर दीर्घजीवी होती है। शरीर-शास्त्र-विदों की दृष्टि से इस प्रकार मैंने दीर्घजीवी माता-पिता का चुनाव किया और यदि कोई दुर्घटना न हो तो माता-पिता की बदौलत मुझे एक लम्बी आयु का अच्छा पट्टा मिल गया है, ऐसा मान लेने में कोई दोष नहीं है।

साधारणतया यह ख़याल दिल में उमंग पैदा करता है, क्योंकि लम्बी आयु,का पट्टा हो तो मनुष्य कच्चे-पक्के कई मनसूबे बाँध सकता है और उनका स्वप्न ले सकता है। पर इस प्रश्न का एक और भी पहलू है। कभी-कभी यह भी संदेह होता है कि दीर्घायु, यह कोरे लाभ की ही कलम है या हानि की भी। आदमी बुड्ढा होकर मरे, यात्रा के अंतिम क़दम

तक पूर्ण स्वस्थ रहे, दिमाग़ दुरुस्त हो, परिवार के लोग सुखी और सम्पन्न हों, सन्तान सपूत हो, तो अवश्य ही दीर्घायु एक दिलचस्प यात्रा बन जाती है। पर ऐसा न हो तब ? ऐसा न हो, तो जीवन एक कठोर कारावास बन जाता है, जिससे मुक्ति पाने की आशा में ही मनुष्य जीवन के दिनों को गिनता रहता है।

निष्कर्ष यह कि भगवान् सारी सुविधाएँ दे, तो लम्बी आयु एक आशीर्वाद है। इसमें मीन-मेख हो, तो वह शाप है।

पाण्डवों को यह शाप नसीब हुआ। महाभारत के अंत में कुटुंब-नाश की पीड़ा उन्हें दुःख देने लगी। जीवन नीरस और दुस्तर बन गया। बन्धु-बान्धव और परिजन सब लड़ाई में काम आये। हर तरफ केवल विधवाएँ, बुड्ढे या रोगी ही दिखाई देने लगे। राज तो मिला, पर रसहीन। बन्धु-बान्धवों के अभाव में विजय का मजा किसकी संगत में भोगें ! जीत सारी किरकिरी बन गई। बुढ़ापा भी आने लगा, तब संसार और भी सूना लगने लगा। ऐसे नीरस संसार में युधिष्ठिर और सब भाइयों ने हिमालय पर चढ़कर जीवन त्यागने का संकल्प किया।

बुढ़ापा और मौत किसीका पक्ष नहीं करते। राजा-रंक किसीको इन्होंने नहीं छोड़ा। कृष्ण भी इनका मुक़ाबला नहीं कर पाये। युधिष्ठिर यह सब समझता था, इसलिए मृत्यु अपने-आप आये, उसके पहले ही उसने मृत्यु का साक्षात्कार करने-का निश्चय किया।

यह सही क़दम था। व्यास ने इसे अपघात नहीं बताया,

क्योंकि अपघात क्षणिक आवेश में आकर प्राण छोड़ देने को ही कह सकते हैं। अंग्रेज़ी में इस अवस्था को क्षणिक पागलपन भी कहते हैं। पर सोच-विचार और निश्चय के अनुसार की गई दृढ़ योजना और उसी योजना के अनुरूप रोज़मर्रा की पहाड़ की थका देनेवाली चढ़ाई, खाना-पीना सारा जारी, पर मर-मिटने की अमिट चाह और इस चाह को पूरी करने के लिए आक्सिजन-रहित स्थान पर हठ के साथ पहुँचना, यह अपघात नहीं, एक तरह के मृत्यु-योग की साधना समझनी चाहिए। योग का कोई एक प्रकार थोड़े ही है! कर्मयोग है तो मृत्यु-योग भी क्यों नहीं!

जल-समाधि लेनेवाले भारत में अनेक साधु-संन्यासी हुए हैं। पर उनका भी मानस क्षणिक होता है। मैंने अपनी आँखों से जल-समाधि लेनेवाले एक संन्यासी को देखा है। आवेश में आकर जल में कूदे कि पीछे हटने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। पर पाण्डवों को तो हर घड़ी पीछे हटने की गुंजाइश थी। किन्तु उन्हें तो धीरज और शान्ति के साथ एक ध्येय के लिए शरीर छोड़ना था। यह धीरज उनका देह-पात के समय तक क़ायम रहा।

मतलब यह था कि जबतक शरीर से कुछ भलाई हो, तबतक उसका संग रखना, और जब इसका अभाव हो तब त्याग कर देना। यही इस योग का मूल सूत्र था।

इस योजना में सबसे पहले द्रौपदी गिरी और उसके बाद एक-एक करके अन्य भाई गिरते गए। पर युधिष्ठिर ने इन गिरनेवालों की तरफ मुँह तक मोड़ने का कष्ट नहीं किया।

न क्षोभ किया, न किया शोक या संताप। वह तो चलता ही रहा; क्योंकि यह सारा क्रम बुनियादी था और उसीके अनुसार ही घटना घटती जा रही थी। फिर क्या तो मुड़ना और क्यों शोक और संताप करना!

ख़ैर, यह तो पाण्डवों की अन्तिम मृत्यु-योजना का विश्लेषण हुआ। बात तो यह है कि दीर्घायु, यह एक निर्मल आशीर्वाद नहीं है कि जिसकी ईश्वर से हर हालत में माँग की जाय। उपनिषद्कार ने कहा है कि सौ वर्ष तक हम काम करते-करते मरें। 'काम करते-करते मरें' इस निर्मल आशीर्वाद की पूर्वजों ने माँग की है।

पर दीर्घायु माता-पिता की सन्तान होना लाभ का एक पहलू तो है ही, जिसका मूल्य भुलाया नहीं जा सकता और उस मूल्य को समाज का कर्ज मानकर उस कर्ज को अदा भी करना, यही जीवन का लक्ष्य है। जीवन और लम्बी आयु, यह भगवान् की दी हुई धरोहर है।

मेरा जब जन्म हुआ तो मेरे माता-पिता सुखी और सम्पन्न थे। इसके कई वर्ष पहले मेरे पितामह ने धन उपार्जन कर लिया था। मेरे पिता के पितामह एक धनी परिवार के मुख्य मुनीम थे, जिनकी तनख्वाह शायद सात रुपया मासिक थी, तो भी उनका रुतबा और दर्जा काफी प्रतिष्ठित था। उस जमाने का सात रुपया माहवार कोई छोटी रकम नहीं मानी जाती थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का वह जमाना था। अजमेर और मऊ की छावनी में बड़े साहबों का निवास था और इनका

साहब लोगों से काफी संपर्क था। जब मेरे प्रपितामह मरे तो मेरे पितामह करीब सोलह साल के थे। मालिकों ने इस जवान लड़के को भी अपने पिता के स्थान पर नौकरी में आजाने का प्रस्ताव किया, पर इनकी स्वतन्त्र प्रकृति और उच्चाभिलाषा के कारण नौकरी ने इन्हें आकर्षित नहीं किया और अपनी माता की इजाजत लेकर वह बम्बई की ओर अपना भाग्य आजमाने को चल पड़े।

उन दिनों बम्बई जाना एक बड़ी समस्या थी। सुना है, पिलानी से निकटतम रेलवे-स्टेशन उन दिनों अहमदाबाद या इन्दौर था। मेरे पितामह ने अहमदाबाद के स्टेशन से बम्बई जानेवाली रेल पकड़ी। पिलानी से अहमदाबाद तक ऊँट पर सफर की। रास्ता उन दिनों विकट था। चोर, डाकुओं का खतरा था। इसलिए ऐसी यात्राएँ एक समूह के साथ होती थीं, जिसे 'सागा' कहते थे। दिनभर ऊंटों पर चलना और रात को किसी धर्मशाला में या खुले में पड़ाव डालकर पड़ा रहना, यह रोजमर्रा का क्रम था। पिलानी से अहमदाबाद पहुंचने में शायद बीस रोज लगते थे। रास्ते में तरह-तरह के दृश्य और भाँति-भाँति के लोगों से भेंट, यह एक मजा था, जो आजकल रेल या हवाई जहाज की यात्रा में नसीब नहीं होता।

बम्बई में मेरे पितामह ने सात साल लगातार परिश्रम और ईमानदारी से व्यवसाय किया और फलस्वरूप कुछ धन-संचय भी किया। सात साल के बाद जब वह पिलानी वापस लौटे तो संचित धन से पहली बुनियाद हवेली की डाली और साथ ही एक कुआँ और एक शिवालय की भी।

भगवान् को भोग लगाकर खाना चाहिए, यह उनका सिद्धान्त था। **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** यह उपनिषद् का वाक्य उन्होंने नहीं पढ़ा था, पर उनका विश्वास था कि भोग लगाकर खाने से भगवान् खानेवाले का भला करते हैं।

प्रथम यात्रा का संचित धन प्रायः हवेली, कुआँ और शिवालय में खर्च हो गया, तब फिर बम्बई की ओर प्रस्थान किया। कुछ साल बाद उन्होंने अपनी स्वतन्त्र दूकान सराफा-धन्धे की खोल दी। बाद में मेरे पिताजी ने धन्धे को उन्नत किया और इस तरह जब मेरा जन्म हुआ तो हमारा परिवार सम्पन्न और उस जमाने के माप-दण्ड के अनुसार धनी परिवारों में एक अग्रसर परिवार हो गया था।

संपत्ति कोई अमिश्रित विभूति नहीं है। इसके दोनों पहलू हैं। लक्ष्मी की स्रोतधारा में अमृत के साथ-साथ विष का प्रवाह भी बहता रहता है। **'जड़-चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन्ह करतार'**— इस लिहाज से लक्ष्मी भी गुण-दोषमय है। दोष को ग्रहण करनेवाला स्रोत का विषैला हिस्सा पीकर मदमस्त होकर अपना सर्वनाश कर बैठता है और अमृत पीनेवाला अमर बनता है। कलाकार स्वरों की सरगम पर अंगुलियाँ रखकर मनमोहक स्वरों से लोगों के दिलों को मोह लेता है और अनाड़ी उसी सरगम से लोगों के कानों को आघात पहुँचाता है।

पर परिवार का सम्पन्न होना मेरे लिए घातक साबित नहीं हुआ; इसका कारण था हमारे परिवार की परम्परा।

मेरे पितामह और पिता दोनों सरल प्रकृति के, ईश्वर

में श्रद्धा रखनेवाले, धर्मभीरु थे। उनकी जीवन-चर्या कठिन थी। एक तो वैसे ही मरुभूमि में रहनेवालों का जीवन कष्टमय होता है; गर्मी में बेहद गर्मी, जाड़े में बेहद जाड़ा। पानी का अभाव, आये-साल अकाल, ऊँटों की यात्रा, सब्जी और फलों का पूर्ण अभाव। सभ्य कही जानेवाली सभी चीज़ों से अलगाव। ऐसी स्थिति का ऐश-आराम से कोई नाता नहीं जुड़ता।

यदि राजस्थानी महज राजस्थान में ही रहते तो जीवन-निर्वाह भी कठिन था, इसलिए बाहर परदेशों की यात्रा करना और वहाँ वर्षों तक बिना कुटुम्ब के रहना उनके लिए अनिवार्य था।

कलकत्ता-बम्बई का निवास भी इन लोगों के लिए सुखद नहीं था। बासे में बीसों आदमियों के साथ सहवास, उनके साथ इकट्ठा खान-पान, एक-एक कमरे में दस-दस आदमियों का शयनागार, पाखानों की तकलीफ और ऊपर से मच्छर और खटमल। ऐसे कठिन जीवन में कमाई करके घर लौटना और वहाँ विश्राम करके फिर परदेश जाना, यह प्रायः जीवन-भर का क्रम था।

घर-गृहस्थी तो सारी राजस्थान में ही रहती थी। महिलाओं को भी यह जीवन असाधारण और दुःखमय नहीं लगता था। ऐसे जीवन में उछरनेवाले लोग शायद ही मदमस्त हो सकते हैं।

मेरे दादा और पिता गर्मी के मौसम में जब दुपहरी में विश्राम करते, तो हवेली के सदर दरवाजे की दो कोठरियों पर जो दुछत्ती थी, उसीपर खटिया डालकर दो घण्टे का

विश्राम करते थे। यह दुछत्ती कोई पाँच फुट लंबी और चार फुट चौड़ी थी और आँगन से छः फुट ऊँची थी। इसपर चढ़ने का कोई जीना भी नहीं था। एक लोहे की जंजीर छत पर से लटकती थी, जिसको पकड़कर एक पाँव दीवार में पत्थर के आगड़े पर रखकर; दूसरा पाँव दुछत्ती की छत पर पहुँच जाता था, और इस कसरत के बाद विश्राम होता था! अजीब तरीका था यह छत पर पहुँचने का। सारी उमर इस कलाबाजी से चढ़ने में बिताई। कभी यह ख़याल नहीं आया कि जीना क्यों न बना लिया जाय। ऐसे कठोर जीवन की परम्परा में मेरा जन्म हुआ, इसलिए परिवार सम्पन्न होते हुए भी मुझे सम्पदा के भयानक रूप देखने का अवसर ही नहीं मिला।

अब यह चीज बदल रही है। राजस्थानियों का निवासस्थान कलकत्ता-बम्बई बन गया, न ऊँट रहे और न रहे मच्छर या खटमल। बिजली-पंखा तो है ही, एयरकंडीशन भी आ गया। इसलिए धन के उपद्रव से आज की संतान भाग्यशाली हो; तो ही बच सकती है।

मेरे लिए भी बचपन का जीवन उतना ही कठोर था, जितना कि अन्य राजस्थानी धनिकों का होता है। बचपन में वही अनुभव मुझे मिला, जो राजस्थान की परम्परा थी। मुझे भी वही गर्मी, सर्दी और ऊँट मिले। न मिले फल और न सब्जी। परदेश में वही खटमल, वही मच्छर, वही बासा और वही पाखानों का क्लेश! जवानी आते-आते ये सब क्लेश ग़ायब हो गए; पर जो स्वभाव एक मर्तबा बन गया, वह बन ही गया।

राजस्थानी धनिकों और मध्यम श्रेणी के लोगों के जीवन की प्रचलित कठिनाई में कोई देखनेलायक फर्क नहीं था। सभीका जीवन सहूलियतों के अभाव में आज के माप-दण्ड से कष्टप्रद था। पर किसीमें इस कष्ट का अखरना नहीं देखा। अनिवार्य समझकर लोग इसको कष्ट नहीं मानते थे।

हर मनुष्य, चाहे जाड़ा हो या गर्मी, शौच के लिए एक-दो मील दूर जंगल ही जाता था। धनिक वर्ग ने—उस जमाने के धनिक भी आज के मध्यम वर्ग के मुकाबले में गरीब कहलाये जा सकते हैं—कभी यह नहीं सोचा कि घर में पाखाना और स्नान-घर क्यों न बना लिया जाय। ऐसी कल्पना ही एक क्रांतिकारी विचार माना जा सकता था, और यदि कोई ऐसा कर लेता, तो ग्राम का समाज अवश्य ही उसे घृणा की नज़र से देखता।

हमारा परिवार भी इसी कठोर राजस्थानी जीवन की परम्परा में अंकुरित हुआ और बढ़ा। इसलिए हमारे जीवन-स्तर में सिवा इसके कि हमारा मकान (हवेली) ठीक था, दो ऊँट थे, दो गायें थीं, कपड़ा कुछ औरों से अच्छा था, औरों के मुकाबले में और कोई भिन्नता नहीं थी और न विभिन्नता की ख्वाहिश ही थी।

पर और परिवारों से हमारे परिवार में कुछ विशेषता थी, और वह थी धर्म की भावना। मेरे पितामह और पिता, दोनों इस कठिन जीवन के साधक होने के अलावा उदार वृत्ति के भी थे और धर्म में उनकी श्रद्धा थी। इसलिए मुझे भी उनकी ही राह का अनुसरण करना पड़ा।

बचपन से ही सुबह पाँच बजे उठ जाने की मेरी आदत डाल दी गई। सवेरे उठकर, निवृत्त होकर, दातून और स्नान से निबटकर, जो पहला काम करने के लिए पिताजी मुझे बाध्य करते थे, वह थी नित्य की पूजा। यह अनिवार्य थी। नौ साल का मैं हुआ तब तो मुझे एक चन्दन का बोटा, चकला, ताम्री, पंचपातर, विष्णुसहस्र-नाम का गुटका, आसन और पूजा की सामग्री का एक झोला सौंप दिया गया था। सुबह सात बजे कि आसन पर बैठ गए, पिता और पितामह के साथ। पहले चन्दन-केशर साथ में घिसकर तिलक लगाओ और उसके बाद विष्णुसहस्र-नाम का पूरा पाठ करो।

पाठ की यह हालत थी कि न तो मेरे पिताजी को शुद्ध पाठ आता था, न आता था मुझे। पर सामने जो गुटका था, उसपर से अंट-संट जो बन पड़ता, तेज़ रफ्तार के साथ मैं पाठ करता ही जाता था। वह सारा-का-सारा अशुद्ध पाठ मुझे कण्ठाग्र हो गया। इन अशुद्धियों का पता तो तब लगा, जबकि मैं संस्कृत में थोड़ी गटर-पटर करने लगा और जब पता लगा, तब तो मेरा पाठ का अभ्यास भी छूट गया था।

और भी कई यम-नियम पिताजी से मिले। ग्रहण में कभी खटिया पर नहीं पड़े रहना, और ग्रहण शुद्ध न हो तबतक भोजन न करना। ग्रहण में छाया-पात्र का दान भी देना पड़ता था। श्रावण में सोमवार का उपवास करके, शिव-पूजन करके फलाहार करना पड़ता था। इस शिव-पूजन और फलाहार में मुझे काफी मज़ा आता था। पर जाड़े के दिनों में ग्रहण की वेला में रात को खटिया से उतरना बहुत ही अखरता

था। कभी बीमार हो गया तो पिताजी महामृत्युंजय का जाप करवा देते थे और उसका संकल्प देना पड़ता था। बुखार हो तो भी समय की संधि में खटिया पर नहीं लेटना, यह भी एक कड़ा नियम था, जो काफी अखरता था। ज्यादा बीमार हो गए तो सुन्दरकाण्ड का पाठ और फिर अधिकाई करना हो तो शतचण्डी। मैं नहीं कह सकता कि मेरी इन सभी चीज़ों में श्रद्धा थी। दुर्गासिप्तशती का नित्य पाठ मैंने वर्षों किया, पर जब श्रद्धा हट गई तो छोड़ दिया।

पर ईश्वर में मेरी श्रद्धा रही, जो बढ़ती ही गई। प्रार्थना में कुछ श्रद्धा रही, पर ज्यादा श्रद्धा काम में रही। **'हाथ काम, मुख काम, हिरदे साँची प्रीत'** यह सूत्र कुछ ज्यादा जंचा।

जो हो, श्रद्धा रही या नहीं, पर जो अभ्यास करवाया गया, वह एक स्वभाव बन गया। एक तरफ राजस्थान का कठोर जीवन और साथ में ये माता-पिता के दिये यम-नियम, इन्होंने मेरी काफी भलाई की।

पच्चीस साल का होते-होते तो राजस्थान और राजस्थानी कष्टों से मेरा सम्पूर्ण नाता टूट गया। कलकत्ता-वास ने सुख-सामग्रियों का जो अभाव अबतक था, वह सारा मिटा दिया। पर इतने दिनों के अभ्यास के बाद इन सुख-सामग्रियों में कोई विशेष आकर्षण भी नहीं रहा।

अजीब बात है कि मनुष्य का स्वभाव कैसे बनता है। मेरा ख़याल है कि मनुष्य भी एक तरह का वृक्ष है और कई पहलुओं से मनुष्य और वृक्ष में कोई फर्क नहीं है। राजस्थान से अच्छे बाजरे का बीज मँगाकर बंगाल की भूमि में बो

दीजिये। एक साल के बाद राजस्थानी बाजरा बंगाली बन जायगा और उसका जाँगड़ापन भाग जायगा। कलकत्ते से गुलाब लेजाकर राजस्थान में लगाओ, तो वह बेहद रँगीला बन जायगा। बम्बई का हापुस आम का पेड़ बंगाल में नहीं पनपता। प्रायः वृक्ष स्थानीय मौसम के आदी होकर अपने-आप उसी मौसम के अनुकूल, अच्छे या बुरे, बन जाते हैं, वैसे ही मनुष्य भी वातावरण का गुलाम है। मैंने जो बचपन में देखा, सुना, जैसी दिनचर्या रही, जैसा समाज का वातावरण रहा, जैते साँचे में मैं ढल गया, उसपर फिर अमरीका या यूरोप की हवा का कोई असर नहीं हुआ।

राजस्थानी जीवन का यह अनुपम आशीर्वाद जो मुझे मिला, मेरे बाद की पीढ़ीवालों को दुर्लभ होगा, पर उन्हें अन्य कई आशीर्वाद मिलेंगे, जो मुझे नसीब नहीं हुए।

मेरे बचपन में पिलानी तीन हज़ार आदमियों की बस्ती का एक छोटा-सा गाँव था। अब तो बस्ती क़रीब पन्द्रह हज़ार होगी और हरियाली भी बढ़ गई है। पर उस ज़माने में अन्य राजस्थानी स्थानों की तरह पिलानी के इर्द-गिर्द भी बालू के टीलों की भरमार थी और वृक्षों का अत्यन्त अभाव था, क्योंकि जलाने के लिए लोग लकड़ी खेतों में से काट ले जाते थे, इसलिए वृक्ष बढ़ने नहीं पाते थे। ज़मीन की बहुतायत थी और जोतनेवाले कम थे। साग-सब्जी तो वर्षा ऋतु में ही थोड़ी होती थी, अन्य फलों का नाम तो केवल कोश तक सीमित था। पीचू और पील या तो काकड़ी, मतीरे मौसम में मिलते थे, जिन्हें हम आज फलों की सूची में शुमार भी नहीं करते।

हमारे ग्राम में एक बड़ा बट का वृक्ष था, जिसकी परिधि शायद एक फलांग होगी। ऊँचाई भी संभवतः १५० फुट रही होगी। कई एक विरले नौजवान थे, जो बट के आरपार पत्थर फेंक सकते थे। बट की जटाओं ने ऊपर से उतर-उतरकर, जमीन में धँसकर, बट को एक प्राचीन ऋषि-मुनि जैसा रूप दे दिया था। इसलिए पचासों कोस तक पिलानी 'बटवाली पिलानी' कहलाती थी।

इसकी तीन हज़ार जन-संख्या क्या थी, यह एक तरह का परिवार था। सबको एक-दूसरे के जीवन के हर पहलू का ज्ञान था। जीवन एक तरह के प्रशान्त तालाब की तरह था, जिसमें लहरें कभी-कभी और वह भी एक-आध ही उठती थीं। एक तो तब, जब किसीकी मृत्यु होती थी। पिलानी में वह एक असाधारण घटना मानी जाती थी। विवाह भी विशेष घटनाओं में से था और जब लड़की ससुराल जाती थी, वह भी एक अवसर माना जाता था।

लड़की की बिदाई बड़ी रोचक थी। यह बिदाई प्रायः प्रातःकाल होती थी और उस समय का रिवाज था कि लड़की जबतक ऊँट पर चढ़कर गाँव के बाहर एक-आध फलांग न पहुँच जाय, तबतक जोर-जोर से कूका-कूक करती ही जाती थी। क्रम यह था कि जब लड़की घर से निकलती तो चारों ओर परिवार की औरतों के झुरमुट से घिरी-घिरी धीरे-धीरे चलती। इस जुलूस के आगे-आगे ऊँट का नकेल पकड़कर लणिहार, अर्थात् लड़की लिवा लेने के लिए आनेवाला, चलता था। जबसे लड़की घर से चलती, तभी से उसका क्रंदन शुरू होता था और

देवियों का झुरमुट विदा का गान छेड़ देता था। इस तरह धीरे-धीरे यह जुलूस घर से चलकर गाँव के बाहर तक पहुँचता था। खूबी यह थी कि कूका-कूक और देवियों के बिदाई-गीत एक ही स्वर में चलते थे। गाँव के बाहर आकर संगीत तो बन्द होता था, पर कूका-कूक की आवाज और भी बुलन्द बन जाती थी। सब औरतें एक-एक करके लड़की से मिलती थीं। उसे सांत्वना और आश्वासन देती थीं, हालाँकि इसकी कोई जरूरत नहीं थी; क्योंकि मेरा ख़याल है, और शायद सभीका यह ख़याल था कि लड़की का रोना बिल्कुल रस्मी था और सांत्वना देना भी एक नेगचार था।

जो हो, गाँव के लोग यदि इन रस्मों में से मन-बहलाव जुटा लेते थे, तो उतनी ही कारीगरी के साथ अन्य क्षेत्रों से भी मनोरंजन खींचकर जीवन को रसमय बनाये रखने की फ़िराक में रहते थे। सौ-पचास वर्ष पहले का हिन्दुस्तान फुरसत में इतना दबा था—और आज भी बेकारी कुछ ही कम है—कि जीवन को नीरसता से बचाने के लिए लोगों को हर क्षेत्र से विनोद और मनोरंजन खींचना पड़ता था, और उसके लिए बेखर्चीले और स्थानीय साधन ही जुटाने पड़ते थे। खर्चीले मनोरंजन के साधन ऐसा समाज बर्दाश्त भी कैसे करे!

इस प्रयत्न में एक लाभ तो यह होता था कि हर मनुष्य के व्यक्तित्व को व्यक्त होने का अच्छा मौका मिलता था। एक नई तरह की निर्माण-वृत्ति भी जागृत होती थी, हालाँकि यह वृत्ति उस समाज की आर्थिक समस्या पर कोई खास असर नहीं डाल सकी, पर आर्थिक क्षेत्र में प्रगति उन दिनों दुर्लभ

थी। जबतक नये प्रकार के कल-पुर्जों के साधन उपलब्ध न हों, ऐसा पिछड़ा हुआ दीन समाज करे भी क्या !

आज तो प्लानिंग बन रहा है, विदेश से सहायता के लिए धन आ रहा है, राजनैतिक स्वतंत्रता है और विद्या-उपार्जन जोरों से हो रहा है। पर ये सब चीजें सौ-पचास वर्ष पहले कहाँ उपलब्ध थीं ? इसलिए .उपजाऊ दिमाग़ की दौड़ ऐसे क्षेत्र में सीमित रहती थी कि जिसमें कुछ विनोद भी हो, कुछ सेवा भी हो और मन कुंठित न हो। इसके फलस्वरूप लोगों में आत्मीयता थी, एकता थी, परस्पर-सहायता की भावना थी और हर चीज़ का मूल्यांकन केवल स्वार्थ या पैसे के मापदण्ड से नहीं किया जाता था। आज तो वह समाज गोल्डस्मिथ के 'वीरान गाँव' की तरह उजड़ गया। अनेक अच्छी बातें आई हैं और अनेक अच्छी बातें गई हैं; पर उस पिछड़ी हुई सभ्यता से रहनेवाले समाज का चित्र आज ग़ायब है।

दबा हुआ समाज उदासी से बचने के लिए आमतौर से अतिशयोक्ति की शरण लेता है। इस कूका-कूक और बिदाई-गीत की रस्म में भी वह अतिशयोक्ति ओतप्रोत थी। लड़की का रोना तो गाँव के बाहर जाते ही ऐसा ग़ायब हो जाता था, जैसे बिजली की चमक अचानक आकर अचानक चली जाती है। और बिदाई-गीत की अतिशयोक्ति भी आज के लोगों को अद्‌भुत लगेगी।

'औजी ओ गोरीरा लश्करिया—औलंगड़ी लगाये र काठे चाल्याजी।'—हे गोरी के लश्कर, प्रीति लगाकर कहाँ जा रहे हो ? अब यह लश्कर तो एक-आध मुर्दा ऊँट तक सीमित था,

जिसपर चढ़कर लड़की ससुराल जाती थी। और यह प्रीति लगाकर जाने के उलहने में यदि कोई असलियत होती, तो लड़की और उसके वर के जाते ही वह महिलाओं की सारी टोली बेहोश होकर गिर जाती। पर ऐसा कभी हुआ नहीं। इतना बढ़ाव-चढ़ाव और अतिशयोक्ति इसी बात की छाया है कि उस समय का समाज अपनी उदासी को भूलने के लिए तरह-तरह के आत्माभिमान-पोषक वाक्यों की शरण लेता था।

गत पाँच-सात सौ वर्ष की कविताओं से भी यही निष्कर्ष निकलता है। सांसारिक साधनों की काफी भर्त्सना इन कविताओं में की गई है, क्योंकि ये सब साधन समाज को उपलब्ध भी नहीं थे। इसलिए उनकी निन्दा करके ही संतोष माना।

मीराँ के पद गानेवाले चाहे मीराँ की भक्ति की और वैराग्य की लाख तारीफें करें, पर कोई घर-गृहस्थीवाला आज यह नहीं चाहेगा कि उसकी बहू-बेटी घर छोड़कर 'संतन ढिंग बैठि-बैठि लोकलाज खो दे।' धन की निंदा भजनों में लोग बड़े चाव से गाते हैं, पर धन के पीछे दौड़ जारी है। बात यह थी, जब सामग्रियाँ उपलब्ध नहीं थीं तब उनकी भर्त्सना हुई, जैसे लोमड़ी के खट्टे बेर। इसका अच्छा पहलू भी था, जो आज ग़ायब होता जा रहा है। वह अच्छा पहलू व्यक्तियों के चरित्र के विश्लेषण से हमारे ख़याल में आ सकता है। ऐसे व्यक्तियों की पिलानी में कमी नहीं थी।

गाँव के उन प्रमुख व्यक्तियों में प्रथम स्थान देना चाहिए स्वामी चरणदासजी को। 'स्वामीजी' इसी नाम से गाँव के लोग उन्हें पुकारते थे। वे एक मंदिर के महन्त थे। पर इतने

ही से उनका हुलिया पूरा नहीं बैठता। स्यामीजी कुछ वैद्य भी थे, कुछ पंडित भी थे। श्रावण में कथा बाँचते थे। एकादशी को मंदिर में जागरण होता था, जबकि रात-भर भजन गाये जाते थे। होली, जलझूलनी, अन्न-कूट को ठाकुरजी की विशेष पूजा होती थी। इसके अलावा स्यामीजी गायक भी थे। पर पाठक इस सारी गुणावली से चौंधिया न जायं, इसलिए कुछ सफाई करना आवश्यक है। स्यामीजी का आयुर्वेद का ज्ञान दस-बारह औषधियों तक था। मेरा खयाल है कि उस ज़माने की आवश्यकतानुसार ये दस-बारह औषधियाँ काफी थीं। स्यामीजी को नाड़ी का ज्ञान भी था। पर नाड़ी तीतर की चाल चलती है या मयूर की, इसकी परख उन्हें थी, ऐसा उनका दावा था। संस्कृत का ज्ञान उनका अत्यन्त स्वल्प था, पर कथा-भागवत भी पढ़ लेते थे। कैसे पढ़ लेते थे, यह एक रहस्य था, जिसका उद्घाटन अभी तक नहीं हुआ। उन्हें सारंगी बजानी आती थी, पर स्वर कुछ उल्टे-पुल्टे गिरते थे। रागों का ज्ञान काफी था, पर उनका गला कफ से इतना अवरुद्ध रहता कि स्वर कहीं-के-कहीं लग जाते थे। पर स्यामीजी बेमिसाल सेवक थे, इसमें अपवाद नहीं। रोज सुबह मंदिर से निकलकर गाँव का पूरा चक्कर देते थे। रोगी को देखकर दवा देते थे और कभी किसीसे न कुछ माँगा, न कोई आकांक्षा की।

स्यामीजी की दाढ़ी लम्बी थी और वे उसे बल देकर कान के चारों ओर रस्सी की तरह आँटा लगा लेते थे। उनका कहना था कि पूरे चार आँटे कान के इर्द-गिर्द उनकी

दाढ़ी का आता है, यद्यपि किसीने मापा हो, ऐसा मुझे पता नहीं।

मैंने स्यामीजी की अनेक राग-रागिनियाँ सुनीं और उनसे सीखीं भी। कोई बाहर का गायक आता तो स्यामीजी उसे मुफ्त भोजन देते। स्यामीजी में मजाक कूट-कूटकर भरा था। निर्लोभी सेवक और हँसोड़े बेमिसाल थे। रात को १२ बजे भी किसी रोगी ने बुलाया तो स्यामीजी चले जाते थे। दवा घर की देते थे और बिना मूल्य। कथा-वार्ता में कुछ विशेष चढ़ावा नहीं आता था, पर खाने-भर का अन्न आ जाता था।

मंदिर में उन्हींके साथ उनकी बहन रहती थी। उसका नाम सद्दी था। उसे इस बात का बड़ा संताप था कि लोग स्यामीजी को कुछ देते-लेते नहीं। हम लोग मंदिर जाकर और जोर से कहते, "सढ़ी दादी, राम राम," तो कुछ खुश होती, आशा करती कि कुछ पैसा मिलेगा। पर थोड़ी दूर जाकर जब हम चिल्लाते, "सद्दी दादी, राँड राँड" तो लाठी उठाकर मारने दौड़ती, पर किसीको चोट नहीं आई।

स्यामीजी जब सत्तर के लगभग होकर मरे, तो मंदिर उजड़ गया। लोगों ने शोक मनाया। न कथा रही, न रहा संगीत और न जड़ी-बूटी। ऐसे बेमिसाल सेवक आज दुर्लभ हैं।

हमारे गाँव में एक थे कनीराम तोला। वह भी बेमिसाल सेवक था। सारे गाँव की पंचायत करता और सदाव्रत (यह बाबा काली कमलीवाले ने मुष्टि-अन्न की बुनियाद पर आरम्भ

करवाया था, जो आज भी जारी है) का हिसाब रखता। लोगों से मुष्टि-अन्न घर-घर से एकत्र करता और गरीबों को वितरण करता, पूरा हिसाब---बही-खाता रखता, पर एक कौड़ी तनख्वाह न लेता। सम्पर्क उसका इतना अधिक था कि गाँव के एक-एक बच्चे का नाम तक जानता था। अमर कोश कण्ठाग्र-वाले मिले हैं, पर तीन हजार आदमियों का पूरा हुलिया रखने वाला तो कोई ही होता है। कनीराम में वह माद्दा था।

कनीराम क़रीब सत्तर साल की आयु पाकर मरा। पर जबतक साठ का न हुआ, कभी रेल भी न देखी; और जब देखी तब अत्यन्त उत्तेजित होकर बैठने से इन्कार किया। कनीराम चाहे आधुनिक चीज़ों में पिछड़ा हुआ था, सेवा में सबसे अग्रसर था।

हमारे यहाँ एक सरूपा खाती था। कारीगर था। पर कल्पना के घोड़े दौड़ाता था। उसका ख़याल था कि अगर उसे सहायता मिले तो वह रेल के इंजिन भी बना सकता है। छोटी-मोटी बाहर से आई चीज़ों की उसने हूबहू नकल करके वैसी ही बना दीं। पर रेल का इंजिन उसके वित्त के बाहर की चीज़ है, यह उसने नहीं माना।

एक पहलवान कमरदीं इलाही था, जो रोज एक हजार दंड पेलता था। खूब दूध पीता था और अच्छे पहलवानों में था। दूसरा गीगलिया एक नायक जात का जवान था, जो ऊँट लादकर पेट पालता था। किसीने मजाक में गीगलिया से कहा, कमरदीं से कुश्ती लड़ोगे? गीगलिया ने 'हां' भर ली। गीगलिया ने न कभी कुश्ती लड़ी थी, न उसे दाँव-पेंच आते

थे। अखाड़ा खोदा गया और गाँव के सारे लोग एकत्र हो गए। कमरदीं ने लंगोट खींचकर कच्छा चढ़ाया, उस्ताद की वंदना की और अखाड़े को नमस्कार करके ताल ठोंकी। गीगलिया के पास न लंगोट था, न कच्छा और न कोई उसका उस्ताद था। उसने महज धोती के पाँयचे कसकर अखाड़े में प्रवेश किया। कुश्ती शुरू हुई। कमरदीं ने पैंतरे बदले, पर पहली ही झपट में गीगलिया ने कमरदीं को सिर पर उठा लिया और लोगों से पूछा, इसे कहाँ पटकूँ? लोग हँसी के मारे लोट-पोट हो गए। कमरदीं ने फिर कभी कुश्ती का नाम न लिया। सुना था, गीगलिया अपने कंधे पर ऊँट को उठा देता था। गीगलिया बंदूक रखता था और अचूक निशानेबाज माना जाता था। एक रोज निशाना मार रहा था, तब बंदूक से गोली छूटकर निशाने से बीस गज़ बायें खड़ी उसकी माँ के पैरों में लगी। माँ गिर गई, मरी नहीं। गीगलिया ने कहा, "अत्त तेरी, माँ राँड दिल्लगी करते ही लोट गई!" यह कहानी वर्षों तक गाँव में प्रचलित रही, जिसे लोगों ने पचासों वेर दोहराया और दोहरा-दोहराकर अपने दिल को बहलाया। आज के गूढ़ मजाकियों को ये सब बातें कंटाले से भरी लगेंगी, पर ऐसे-ऐसे मनोरंजनों से ही जनता उस नीरस समय में रस डालकर काल-यापन करती थी।

हमारे यहाँ एक डाकिन थी। उसका नाम था बर्जली। बर्जली की बतौर डाकिन काफी शोहरत फैल गई थी, यहाँ तक कि बच्चों के माँ-बाप उससे इतने डरते थे कि बच्चों को उसके सामने नहीं आने देते थे। कभी जब वह हमारे पास

में आती तो हमें छिपा लिया जाता था, क्योंकि उसकी आँख पड़ने पर काफी अशुभ की आशंका थी। यदि कोई बच्चा बीमार पड़ गया और शक बर्जली पर गया तो या तो उसकी मिन्नत करके या उसे ठोक-पीटकर जबरन उससे बच्चे पर थुकवाया जाता था। इसके माने यह थे कि बर्जली ने बच्चे पर यदि थूक दिया तो फिर उसने जो जादू बच्चे पर चलाया था, वह वापस आजाता था।

मैंने बर्जली को छिपछापकर देखा था। सूरत-शकल से वह एक साधारण कुरूप बुढ़िया लगती थी, पर उसकी शोहरत के कारण उसको कुछ आमद भी हो जाती थी। इसलिए बर्जली ने कभी डाकिन होने से इन्कार नहीं किया, बल्कि लोगों के इस विश्वास को उसने प्रोत्साहन ही दिया।

सुना था रात को बर्जली ज़रख (लकड़बग्घा) पर चढ़कर कुएँ की गूण पर ऊपर-नीचे सवारी पर उतरती-चढ़ती रहती थी। पता नहीं, हमारे प्रांत में ऊँट, घोड़े, बैल होते हुए भी बर्जली को ज़रख की सवारी क्यों पसन्द थी। पर यह अपने-अपने मुल्क का रिवाज और अपना-अपना शौक़ समझिये; क्योंकि यूरोपियन डाइन को झाड़ू पर चढ़ने का शौक़ है। खैर, यूरोपियन डाइन की सारी करतूतों का तो मुझे पता नहीं, पर बर्जली का शौक़ यह था कि जो बच्चा उसके जादू से मर गया, उसे रात को गड्ढे से उखाड़कर वह जिन्दा कर देती थी और फिर बच्चे को खिलाती रहती थी। सुबह की वेला फिर उसे मारकर उसी गड्ढे में गाड़ देती थी। यह बर्जली डाकिन का शौक़ कुछ अजीब था, जिसके माने समझना आज

की नवीन सन्तान के लिए मुश्किल है। पर उस ज़माने के लोगों के लिए इसे समझना मामूली बात थी।

वर्जली बच्चे को ज़िन्दा करने से पहले बच्चे के कलेजे को निकालकर खा जाती थी। कलेजे के क्या माने होते हैं, यह अनेटोमी के ज्ञान के अभाव में किसीको पता नहीं था। पर सभी ऐसा मानते थे कि बच्चे का कलेजा डाकिन निकाल लेती है।

हमारे यहाँ एक ब्राह्मण लड़का था, जो डाकिन के जादू से मर गया था। उसके परिवारवालों को पता था कि वह बच्चा डाकिन के जादू से मरा है। इसलिए जिस दिन बच्चे को गाड़ा गया था, उसी रात को बच्चे के परिवार के दस-पाँच आदमी जंगल में जा छिपे। अब बर्जली रात को जहाँ बच्चा गाड़ा गया था, पहुँची। बच्चे को निकाला और ज़िन्दा करके ज्योंही उसे खिलाना शुरू किया कि इन लोगोंने पीछे से बर्जली का चोटा पकड़कर उल्टे सिर धर दबोचा और बच्चे को छीनकर ले भागे। इसकी करामात यह थी कि अगर बच्चे को इस छीना-झपटी के समय फिर वर्जली देख पाती तो बच्चा ज़िन्दा नहीं रहता था। इस मरे हुए बच्चे को बर्जली की गोद में से किस तरह बचाया, यह किस्सा गाँव के लोग बड़े चाव से पच्चीसों साल के बाद भी श्रद्धा से सुनते और चाव से कहते। किसीने इस बात का विरोध नहीं किया, न किसीने इसकी सच्चाई में शंका की; बल्कि बच्चे के माँ-बाप सौगंद खाकर भी इस कथा की सत्यता स्वीकार करते थे। अजीब ज़माना था वह डाकिनों और भूतों का !

इस ज़माने में तो डाकिनों की फैशन उठ गई और न रहे भूत-भूतनियाँ, पर मेरे बचपन में भूत-भूतनियों की कोई कमी नहीं थी। बीसों आदमियों ने उन्हें देखा और उनसे बातें कीं, हालाँकि लाख कोशिश करने पर भी मैं भूत-देवता के दर्शन नहीं कर पाया। कम-से-कम इस ज़माने के लोगों का सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि उनके लिए अब भूत देखने का कोई मौक़ा ही नहीं रह गया।

हमारे पूर्वजों में भी एक 'पित्तर' हो गए हैं। यह ध्यान देने की बात है कि पित्तर और भूत अलग-अलग हैं। भूत नालायक, कमीने होते हैं, लोगों का नुकसान करते हैं और पित्तर भले होते हैं। हमारे परिवार की परम्परा ने भी कुछ सहारा लगाया होगा कि हमारे पूर्वजों में पित्तर हुए। यह पित्तर रात को सफ़ेद कपड़े पहनकर और कभी-कभी सफ़ेद घोड़े पर चढ़कर निकलते थे और हर पहलू से हमारी रक्षा में तैनात रहते थे। मेरी माँ को इनका बड़ा भरोसा था। एक मरतबा शाम को मैं देरी तक गलियों में खेलता रहा और जब वापस लौटा तो पिताजी को क्रुद्ध देखकर वापस भागकर किसी एक फूटे मकान में जाकर छिप गया। अब शुरू हुई दौड़-धूप मुझे खोजने की। लोग चिल्लाते और पुकारते उस टूटे मकान के पास से निकल जाते थे, पर किसीने भीतर घुसकर नहीं देखा कि मैं मजे में खड़ा सबको देख रहा हूँ।

खैर, लोगों की इस परेशानी को देखकर, न मालूम क्यों, मुझे बड़े जोर से हँसी आई और मैं बाहर निकल पड़ा। मुझे हाथोंहाथ गोदी में चढ़ाकर मेरी माँ के पास पहुँचाया गया

और, पता नहीं क्यों, बजाय पीटने के मेरा काफी दुलार हुआ। पीछे से मैंने सुना कि मुझे किसी कारण पित्तर ने छिपा लिया था। लोगों ने बिना किसी झिझक के मेरी माँ को बताया कि उन्होंने एक सफेद कपड़ेवाले मनुष्य को उस फूटे मकान के पास देखा था। फिर तो उन पित्तर को प्रसन्न करने के लिए खीर बनी, जो मैंने भी बड़े चाव से खाई।

अफसोस है कि भूतों और पित्तरों का यह समाज आज ग़ायब हो गया, रूठ गया या बेकार हो गया। जो हो, ये सब वाक़ये गाँव के लोगों को व्यस्त रखने के लिए काफी मसाला दे देते थे।

हमारे यहाँ कहावत थी :

"सीयाले खाटू भलो
ऊनाले अजमेर;
नागाणो नित को भलो
सावण बीकानेर।"

उन दिनों, जबकि लोगों का अन्य प्रदेशों का ज्ञान परिमित था, मुमकिन है, ऊपर का यह ख़याल ठीक हो। तीन सौ साल पहले तो अजमेर के आसपास के प्रदेशों में काफ़ी बड़े जंगल थे और आबू भी पास में ही था। इसलिए गर्मी की लू से बचने के लिए 'उनाले अजमेर' ठीक हो सकता है। पर श्रावण की सारे राजस्थान में भी विशेषता रही है और पिलानी भी इस विशेषता से बरी नहीं थी।

आज तो तुलना कुछ बारीकी से होने लगी है, इसलिए श्रावण में जब तापमान ९५ से ऊपर रहता है, उमस बहुत

ज़्यादा रहती है, कीड़े-मकोड़ों और मच्छरों का ज़ोर रहता है तो हवा-पानी और मौसम की दृष्टि से पिलानी में या राजस्थान में आकर्षण कम रह गया है। पर हमें उन लोगों की नज़र से देखना चाहिए, जो लू खाते-खाते तंग आगए थे और पपीहे की तरह वर्षा की उडीक करते थे।

वर्षा के राजस्थान में अनेक आकर्षण हैं। प्रचण्ड गर्मी के बाद बादलों की काली और रुपहरी शक्ल के साथ उतार-चढ़ाव, बूंदों की रिमझिम, बिजली की कड़क, मोरों का मेह की गरज पर नाच, किसानों का हल ले-लेकर निकलना, खेतों में फिर आठ महीने के बाद चहल-पहल—ये सब बातें राजस्थानी के लिए कुछ अनोखी हैं। वर्षा जब आती थी, बच्चे नालियों के पानी में और गलियों की नालियों में भी क्रीड़ा करने उलट पड़ते थे। सारे साल का अन्न एक ही ऋतु में पैदा होता है, यदि अकाल न पड़ा तो। इसलिए भी वर्षा ऋतु का महत्व राजस्थान में अन्य प्रदेशों से कहीं काफ़ी अधिक है।

हमारे यहाँ भी एक पचास बीघे का खेत था, जिसे किराये के हलों से हम लोग जुतवाते थे। बाजरी तो प्रधान फसल है। उसे बोते ही थे। पर बाजरी के साथ गँवार (गौ-अहार), मूँग, मोठ, चौला, काकड़ी, मतीरे के बीज भी बोये जाते थे। और इन सब चीज़ों के अंकुरित होने से लगाकर फसल कटने तक हम लोग हर-दिन की प्रगति से अपने-आप को ब्यौरेवार वाक़िफ़ रखते थे। जब बाजरे के सिट्टे लगते थे, उस समय तक ककड़ी और मतीरे भी तैयार होने आ जाते थे। तब मित्रों के साथ खेतों में एक तरह की पिकनिक होती थी, जिसमें उत्साह,

आनन्द और उत्तेजना का कोई ठिकाना नहीं रहता था। शाम को घर आते तब ऊँट पर गँवार-फली, बाजरे के सिट्टे और मतीरे लादकर घर ले आते थे। अब तो इन चीज़ों का रस राजस्थानियों के दिल से भी निकल गया, पर उस पुरानी पृष्ठ-भूमि पर ये सब चीज़ें दुर्लभ थीं, जिन्हें प्राप्त करने की लालसा बनी ही रहती थी।

पर यह चित्र तो हुआ वर्षा होने पर फसल अच्छी हो उसका; इसके विपरीत जब अकाल पड़ता था तो सब मुर्झा जाते थे। मेरी याद में और शायद सारे हिन्दुस्तान में १९५६ संवत्-जैसा अकाल नहीं पड़ा। इससे पहले सुना था कि संवत् १९०० और १९०१ में लगातार दो अकाल पड़े थे। इनका नाम लोगों ने 'सैया' और 'भैया' रक्खा। ये अकाल, कहते हैं, इतने भयंकर थे कि १९०१ में किसी घर में चक्की की आवाज सुनकर १९०१ का दुर्भिक्ष 'सैया' १९०० के दुर्भिक्ष 'भैया' से कहता था—'**चाकी चालेरे सैया, माणस बोले रे भैया!**'

इसके बाद भी एक-आध भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। पर छप्पनिये अकाल ने सब अकालों को नीचा दिखाया। इसकी भयंकरता भय को भी डरानेवाली थी। छप्पन में यों कहना चाहिए कि बरसात हुई ही नहीं। आषाढ़ गया, श्रावण गया, जब भादों गया तब तो लोगों के छक्के छूट गए। कुछ हिस्सों में, जहाँ पानी खारा है, वहाँ तो कुण्डों का भी पानी सूख गया। सारा बागड़, जो राजस्थान का पश्चिमी हिस्सा है, भादों में डुल पड़ा और अन्य प्रदेशों में जाने लगा। पर जाना भी

आसान नहीं था। जिन पशुओं के बल पर गाड़ों में सामान लादकर बालद चली थी, वे पशु एक-एक करके मरने लगे। उनके बाद नम्बर आया मनुष्यों का। भूख के मारे लोग बच्चे बेचने लगे, पर लेनेवाला कहाँ! लोगों की कमर में रुपये बँधे पड़े रहे और भूख के मारे मरते गए।

मैंने अपनी आँखों बीसों मुर्दे हमारे गाँव के आसपास सड़ते देखे और सैकड़ों खोपड़ियाँ बिखरी हुई देखीं। लोग समझ न पाये कि क्या हो रहा है। यातायात की उन दिनों कमी थी। रेल तो थी नहीं, ऊँट-बैल चारे के अभाव में मर गए। अन्न करीब ६ रुपया मन मिलता था, पर पहुँच नहीं पाता था।

मेरे पिताजी ने लोगों को काम देने के मतलब से कई जगह कच्चे तालाब और कुओं की मरम्मत करवानी शुरू की, पर कोई दवा सफल नहीं हुई। लाखों आदमी राजस्थान में मरे। लोगों के देखते-देखते यह एक अनहोनी घटना थी। इतनी भूख पर भी कोई लूट-खसोट या डाका नहीं पड़ा। लोग चुपचाप ईश्वर की शरण में जाते थे। किसी-किसी घर में तो मुर्दा जलानेवाला भी नहीं बचा।

इस दुर्भिक्ष के समय में पिलानी में जो कोई डुलकर आया, उसे सदाव्रत की तरफ से कनीराम तोला एक मुट्ठी अन्न दे देता था और हमारे परिवार की तरफ से भी कुछ-न-कुछ प्रबंध था। उत्तरप्रदेश से अच्छी तादाद में किसारी और मटर आयात कर ली गई थी और हर भूखे को एक-एक मुट्ठी दोनों अन्नों की बाँट देते थे। खानेवालों

को पकाने तक की फुर्सत नहीं थी। इसलिए मटर और किसारी को कच्चा ही फाँक जाते थे।

क्षुधा की पीड़ा का यह रोमांचकारी दृश्य मैंने बचपन में ही देखा। मैं उस समय केवल पाँच साल का था, पर मेरे चारों ओर क्या हो रहा है, इसका मुझे अच्छी तरह भान था। भूखे लोगों का त्रास और जगह-जगह मुर्दे और खोपड़ियों का टलना, यह भयानक दृश्य था, जिसने मेरे हृदय पर काफ़ी चोट की। कुछ ग़रीब लड़के मेरे साथी थे। उन्हें मैं अपने यहाँ से कुछ और भी अन्न दे देता था। उन साथियों में एक-आध आज जिन्दा हैं और हमारे यहाँ कुछ कार्य भी करते हैं।

पर छप्पन जितना भयंकर दुर्भिक्ष था, सत्तावन वैसा ही चिरस्मरणीय सुकाल हुआ। छप्पन में पशु सब मर गए थे और इसलिए खेती कैसे जोतेंगे, यह भी एक समस्या थी। सत्तावन में आषाढ़ में ही बादल छाने लगे, पर वर्षा नहीं हुई। लोगों की चिन्ता बढ़ी। लोगों ने सतृष्ण आँखों से बादलों की ओर देखा—आशा और भय के साथ। यदि फिर अकाल पड़ा तो? और वर्षा हुई भी तो खेती कैसे बोयेंगे? इसी उधेड़-बुन में थे कि श्रावण में इन्द्र उमड़ पड़ा, मूसलाधार वर्षा हुई और उसके बाद चाही-चाही वर्षा हुई समय पर, न कम, न अधिक। वर्षा होते ही नर-कंकाल खेतों में दौड़ गए और मर्द और स्त्री मिलकर पशु की तरह हल खींचने लगे। पर पूरी खेती न होने पाई। इधर भगवान् बरसा तो ऐसा बरसा कि जहाँ खेती नहीं जोती गई, वहाँ भी बाजरी, मूँग, मोठ

उग पड़ी। बाजरा बढ़ा तो ऐसा बढ़ा कि कई-कई बूंट १५-२० फुट लम्बे गये। एक-एक बूंट में सात-सात सिट्टियाँ लगीं। लोगों को फसल पकने तक का धीरज नहीं था। इसलिए कच्ची बाजरी मूंद-मूंदकर खाने लगे और ऐसे ही काकड़ी और मतीरे।

सूखी हुई हड्डियों में जान आई और मांस-चर्बी जो सूख गई थी, वह मनुष्यों के बदन पर फिर आने लगी। आसोज आते-आते तो लोग मोटे-ताजे हो गए। बाजरी इतनी सस्ती हो गई कि कोई लेनेवाला नहीं मिला, पर इन्द्र चुप नहीं रहा। माघ तक बरसता ही रहा। फसल कट गई, पर फिर अपने-आप पनप गई और सिट्टे माघ तक चलते रहे।

भगवान की लीला अपरंपार है। छप्पन का काल और सत्तावन का सुकाल, ये राजस्थानी हृदयों पर एक अमिट छाप छोड़ गए हैं।

इस पृष्ठ-भूमि और इस वातावरण में मैं जन्मा और पला। इसकी मुझे खुशी है। भविष्य की सन्तान को यह अवसर शायद ही मिले, क्योंकि उस समय के जनमनेवालों ने काफी फेर-बदल देखा। रंगमंच पर कई नये पर्दे पड़े और कई सिमटे। मेरे बचपन में भारत परतंत्र था। एशिया के मुल्क भी पिछड़े हुए थे। सारे आलम में इंगलिस्तान का डंका बजता था। रानी विक्टोरिया के राज में सूर्य कभी अस्त नहीं होता था। अंग्रेजों की यशःपताका शिखर पर पहुँच चुकी थी और शान के साथ फहरा रही थी। इसके बाद स्वतन्त्रता का संग्राम शुरू हुआ, वह भी मैंने देखा। अंग्रेजों की ढलती

आई, मेरे देखते-देखते रूस पनपा और उन्नत हुआ। भारत को आज़ादी मिली और अंग्रेज़ी यूनियन जैक की जगह तिरंगा झंडा चढ़ गया। अन्य मुल्कों को भी आज़ादी मिली। गांधी-जी के सम्पर्क में मैं आया और अन्य नेताओं को भी नज़दीक से देखा। उनसे बहुत-कुछ सीखा। उनकी सेवा करने का भी मौक़ा मिला।

इस अनोखे समय और वातावरण में जन्म लेना, पनपना और ज़िंदा रहना, यह एक बड़ा सुअवसर मुझे मिला।

: २ :

मेरा शिक्षण

मेरी शिक्षा की कहानी आज के उन्नत माने जानेवाले युग में एक अजीव-सी कथा लगेगी। जब मैं चार ही साल का था, तब सरस्वती और गणेश-पूजन के बाद, बड़े समारोह के साथ, मुझे पाठशाला भेजा गया। हम लोग उस ज़माने में उस स्थान को पाठशाला तो शायद ही कहते थे। बोलचाल की भाषा में इसे 'साल' कहा जाता था और यह साल भी एक अद्‌भुत जगह थी।

एक पुरानी टूटी-फूटी मंडी में एक 'गुरु' पचासेक लड़कों को 'नीचे धरती और ऊपर आकाश' ऐसे एक खुले चौगान में धरती पर, बिना किसी जाजम या दरी के बिछात के, बैठाकर पढ़ाते थे। चूँकि ऊपर कोई छत नहीं थी, इसलिए धूप से बचने के लिए दीवार की आड़ में क्लास लगती थी, और जब वर्षा होती, तब पाठशाला बन्द कर दी जाती थी।

पाठ्यक्रम की पुस्तकों के नाम पर तो तोबा था। शायद इस शब्द का अर्थ भी गुरु नहीं जानते थे। स्लेट भी सब बच्चों के पास नहीं होती थी। जिनके पास स्लेट नहीं थी, उनके पास एक पटिया होती थी, जिसपर ईंट की खोर बिछाकर लकड़ी के 'बरते' से लड़के कुछ अंक लिख लेते थे।

अंक लिखे जाते थे, अक्षर नहीं। अक्षर-ज्ञान राजस्थान

में उस जमाने म अनावश्यक समझा जाता था। शिक्षा का आरम्भ होता था 'अंकों' से। पट्टी-पहाड़ा, सवैया, डेढ़ा, ढाँवाँ, पौना, कनकैया, जोड़, बाकी, गुणाकार, भागाकार, ज़बानी हिसाब—बस, यहाँ तक पहुँचे कि शिक्षा समाप्त। इसके बाद अक्षर-ज्ञान कराया जाता था—वह भी बिना मात्रा के अक्षर, जिन्हें 'मोडा' कहते थे। इन मोडा अक्षरों का भी कोई निश्चित स्टैण्डर्ड नहीं था। जैसी जिसकी लिखावट, वैसा ही 'मोडा' अक्षर। इसका कुछ ज्ञान होने के बाद आदतन हरएक को सभी तरह के मोडा अक्षर पढ़ने का अभ्यास हो जाता था। बस, यही उस ज़माने की शिक्षा का क्रम था, जो क़रीब तीन-चार साल में समाप्त हो जाता था।

कुछ गुरु ऐसे भी माने जाते थे, जिन्हें लीलावती के त्रैराशिक का ज्ञान था; पर इस ज्ञान को किसीने कसौटी पर नहीं कसा, क्योंकि त्रैराशिक पढ़नेवाले शिष्य ही कहाँ थे!

मैंने भी इसी क्रम का अनुसरण किया।

पर तीन-चार साल के बाद एक रोज़ अचानक एक नई घटना घटी। जब लड़के सुबह-सुबह 'साल' पहुँचे, तो देखा कि गुरु नदारद हैं। बात यह हुई कि गुरु की किसी विधवा से लागफाँस थी, और वह रात ही को गाँव छोड़कर उस विधवा के साथ ऊँट पर चढ़कर भाग गया। यह एक उत्तेजनाप्रद घटना थी। गाँव में इसे लेकर बड़ा शोरगुल मचा। गली-गली में इसकी चर्चा होने लगी। लड़कों में भी कुतूहल जाग उठा, और कानाफूँसी चलती रही। पर एक बात हुई; वह 'साल' सदा के लिए बन्द हो गई।

मेरे दादाजी और पिताजी को अब चिन्ता हुई मेरे शिक्षण की। नया प्रबन्ध क्या हो, इस उधेड़बुन में पड़कर बड़ी खोज-खाज के बाद एक नया गुरु बुलाया गया। इसका नाम था कार्नसिंह। यह जाति का राजपूत था, बुड्ढा था, खूब सफेद दाढ़ी थी। इसका ज्ञान भी उतना ही माना जाता था, जितना कि प्रथम गुरु का। कार्नसिंह ने आकर हमारे एक छोटे-से पुराने मकान में पाठशाला खोल दी। कार्नसिंह पाँच रुपया मासिक तनख्वाह पर नियुक्त होकर आया था। मुड्ढे पर बैठकर वह बेंत के ज़ोर से पाठशाला चलाने लगा। पचासेक लड़के पाठशाला में जुट गए। मैंने भी इस पाठशाला में अपनी अधूरी शिक्षा कार्नसिंह के सहारे से 'पूरी' की। दरअसल तो हर शिक्षा अधूरी ही रहती है, पर ज़बानी हिसाब-किताब सीखने के बाद सात ही साल की अवस्था में तो मैं दक्ष मान लिया गया। बाहर के लोग आकर यदि पूछते कि अढ़ाई सेर का घी, तो एक मन का क्या दाम? तो मैं चट से सही उत्तर दे देता था। यह उस जमाने में कोई साधारण विद्या नहीं मानी जाती थी।

पर अब, बदलते हुए ज़माने में, काल-धर्म के अनुसार, अंग्रेजी की भी कमी महसूस होने लगी। वह कमी कार्नसिंह से नहीं पूरी हो सकती थी। वह बेचारा अंग्रेजी से तो कोसों दूर था। हिन्दी के अक्षर-ज्ञान से भी सरासर बेक़सूर था। इसलिए अब तय यह हुआ कि कार्नसिंह को हटाकर कोई अंग्रेजी-पढ़ा मास्टर रक्खा जाय। इस विचार के परिणाम-स्वरूप मास्टर रामबिलास को बुलाया गया। यह भिवानी

से आये। हट्टे-कट्टे जवान और क्रोध की मूर्त्ति। तनख्वाह इनकी पच्चीस रुपये मासिक थी। रामबिलास मास्टर ने स्कूल को एक नये ढाँचे में ढाला और अब यह स्कूल नया रूप लेकर चलने लगा। स्कूल में घड़ी रक्खी गई और घड़ियाल भी, जो हर घण्टे घण्टा बजाकर गाँववालों को, कितना बजा है, यह बताती थी। गाँववालों ने इसे एक बड़ी क्रान्तिकारी घटना माना।

कानसिंह से तो लड़के परिचित हो गए थे, क्योंकि उनमें स्थानीय 'बू' पुष्कल थी, पर जब रामबिलास आये तो कुछ दिन लड़कों को उसकी खटक रही, बाद उनके भी आदी हो गए। रामबिलास की वेश-भूषा भी कुछ अंग्रेजी ठाठ की थी, और ऊपर से क्रोध की तेजी। इसलिए उनका रौब काफी जम गया।

मास्टर रामबिलास कुछ मामूली-सी ही अंग्रेजी जानते थे। किसी मौलवी साहब से उन्होंने उर्दू भी सीखी थी, पर हिन्दी से वे पूरे बेदाग़ थे। इसलिए उस उर्दूदाँ आबोहवा में मैंने सर्वप्रथम अंग्रेजी की प्यारेचरण सरकार की 'फर्स्ट बुक ऑव रीडिंग' में प्रवेश किया। अंग्रेजी के स्वर और व्यंजन से ही इस पुस्तिका का आरम्भ होता था। छोटे-छोटे शब्दों के बाद इसमें छोटे-छोटे सहज वाक्यों का क्रम था। मैंने धीरे-धीरे स्वर-व्यंजन समाप्त करके मास्टरजी की सहायता से एक साल में सारी पुस्तक का अन्त कर दिया और उसी अन्त के साथ-साथ नौ साल की आयु में मेरी शिक्षा के प्रथम सोपान का भी अन्त हुआ। अंग्रेजी-शब्दों का अर्थ मास्टरसाहब उर्दू

में बताते थे, इसलिए मैं भी हिन्दी की आबोहवा से बिल्कुल कोरा रहा। मुझे याद है कि 'एक्सट्रा-ऑर्डिनरी' शब्द के माने उन्होंने बताये थे, 'अजब तरह की चालाकियाँ'! खुदा जाने, यह अर्थ उनके दिमाग़ में कहाँ से आ टपका! पर मैंने तो जो बताया गया, उसे ही याद किया। पीछे, जब अशुद्धि का पता चला, तब दुरुस्त किया। खैर, ग़लत-सलत कुछ भी मैंने सीखा, पर गाँव-गली के लोग तो मेरी उतनी ही इज़्ज़त करते थे, जितनी कि किसी 'विशारद' की हो सकती है; क्योंकि मुझे अंग्रेजी में तार लिखना-पढ़ना आ गया था, और अंग्रेजी के कुछ वाक्य भी मौक़े-बेमौक़े बक सकता था। इस गँवई 'विद्या' की प्राप्ति के पश्चात् मुझे कलकत्ते दादाजी के पास भेज दिया गया, क्योंकि गाँव के सीमित वातावरण से मेरा स्तर ऊँचा हो गया था, ऐसा मान लिया गया।

कलकत्ते जब मैं पहुँचा तब नौ साल का था। कुछ अपरिचित विदेशियों ने मेरे दादाजी से कहा कि लड़के को आगे पढ़ाना चाहिए। कुछ लोगों ने यह भी कहा, लड़का होशियार है। पर दादाजी के पास सबके लिए एक ही उत्तर था, "ज़्यादा पढ़ाने से लड़का बस का नहीं रहेगा, और अंग्रेजी अधिक पढ़ने से 'किस्टान' हो जायगा।" तब भी अधिक दबाव में आकर कलकत्ते में 'विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय' में मुझे दाखिल करवा ही दिया गया। इस दाखिले के लिए आठ-दस किताबें खरीदकर दे दी गईं और एक बैग भी किताबें रखने के लिए दिया गया। यह मेरे लिए अत्यन्त उलझीला अनुभव था। कहाँ मैं गाँव-गँवई का लड़का और कहाँ कलकत्ते के स्कूल

का यह अद्भुत वातावरण ! दसियों अध्यापक, कई क्लासें, सैकड़ों लड़के, यह सब मुझे दिलचस्प तो लगा, पर भयावना भी लगा। लड़के भी कलकतिये, इसलिए गाँव के लड़कों से भिन्न। अलग वेशभूषा। भाषा भी हिन्दी-मिश्रित । इस सब को मैं पचा नहीं पाया। खैर, मैं स्कूल में दाखिल तो हो गया, पर मन वहाँ चिपटा नहीं । इसलिए धीरे-धीरे स्कूल से गैर-हाज़िर होने लगा।

दादाजी तो मुझसे कभी पूछते भी नहीं थे कि मैं क्या पढ़ता था और स्कूल मुझे कैसा पसन्द आया। मेरी विद्या से उनकी विद्या तो और भी निम्न स्तर की थी । इसलिए हमारे बीच यह एक मौन समझौता बन गया कि न तो वे मुझसे पूछते कि मैं क्या पढ़ रहा हूं, और न मैंने ही कभी उन्हें अपनी दिन-चर्या से परिचित किया।

असलियत तो यह थी कि मैं घर से अपना 'बैग' लेकर स्कूल के लिए रवाना हो जाता था, पर स्कूल न जाकर दिन-भर कलकत्ते की गलियों से ही मैत्री होती थी। दिनभर चक्कर काटकर शाम को घर पहुँच जाता था। नतीजा यह हुआ कि मैंने 'विशुद्धानन्द विद्यालय' से तो कुछ नहीं पाया, पर कलकत्ते की गलियों से कलकत्ते के भूगोल का काफी ज्ञान हासिल कर लिया। मेरा खयाल है कि इस भूगोल की परीक्षा में आज भी मैं अच्छे नम्बरों से पास हो सकता हूं।

पर यह क्रम भी समाप्त हुआ। मेरे पिताजी मुझे बम्बई ले गए और वहाँ व्यवसाय सिखाने के साथ-साथ एक घंटे के

लिए एक मास्टर को तैनात कर दिया, जो अंग्रेजी की गटर-पटर रटाया करता था।

इस तरह दो साल और बीते। इस अरसे में हिसाब-किताब, बही-खाता तो मैं सीख ही गया, कुछ अंग्रेजी के वातावरण से भी परिचित हो गया। तार तो लिखना आ ही गया था, अब कुछ टूटी-फूटी चिट्ठियों के क्षेत्र में भी दुःसाहस करने लगा। पर मेरे इर्द-गिर्द तो ऐसे अनपढ़ों की मंडली थी कि उनके बीच में मैं पूरा विशारद था।

इसके बाद कुछ दिन फिर पिलानी के ही स्कूल में रहा। मास्टर रामबिलास के साथ-साथ अब वहाँ मास्टर श्रीराम भी आ गए थे। हरफ़न-मौला और उड़ान के मास्टर थे वह। उड़ान देते ही रहते थे। कोई भी पाठ्यक्रम स्थिर नहीं रहता था। किसी भी चीज़ पर उनका दिल नहीं अटकता था। आज हिन्दी तो कल संस्कृत, परसों कुछ और। अंग्रेजी की पुस्तकों की भी अजीब अदला-बदली हर महीने चलती थी। कभी तो छोटी क्लास के लड़कों को 'ब्लैकीज़ सेल्फ-कल्चर' सौंपी जाती, तो कभी वापस 'इंग्लिश प्रायमर' से पाठ आरम्भ होता था। 'होरा-चक्र' और 'शीघ्रबोध', जिनसे पाठ्यक्रम का कोई सम्बन्ध नहीं था, वह भी टपक पड़ता था। मास्टर श्रीराम 'लघुकौमुदी' और 'अमरकोश' को भी लड़कों पर लादने की कोशिश में थे, पर नाकामयाब हुए। ये सारे प्रयोग होते थे नौ-दस साल की उम्र के लड़कों पर!

इस निरन्तर अदला-बदली के कारण कम-से-कम मेरी कई पुस्तकों और कई नये विषयों से पहचान बढ़ी। खैर, पर

इन्हें हिन्दी ठीक-ठीक आती थी। उर्दू, अंग्रेजी से भी ठीक-ठीक ठोकर खाई थी। इसका कुछ अच्छा असर भी पड़ा, क्योंकि इनके जरिये मैंने हिन्दी में प्रवेश कर लिया और ठोकरें खाते-खाते एक साल के बाद लोअर प्रायमरी की परीक्षा को पास कर ही तो लिया। यह परीक्षा क्या थी, इसका माप-दंड बताना आज कठिन है; पर शायद आज की चौथी क्लास से इसकी तुलना हो सकती है। इसके बाद मैं और पढ़ता, तो अपर प्रायमरी की परीक्षा देकर मिडिल भी पास कर सकता था।

पर अब पिताजी ने भी मान लिया कि इस 'विशारद' को व्यवसाय में डालना चाहिए। इसलिए तेरह साल की अवस्था में पिताजी के नीचे व्यवसाय करने लगा, और 'स्कूली जीवन' को तो, यदि इस जीवन को इतनी बड़ी उपमा देने की मैं धृष्टता करूँ, अन्तिम नमस्कार किया। यह है मेरी शिक्षा की कहानी!

पर जब व्यवसाय में पड़ा, तब मुझे अपनी इस कमी का स्पष्ट ज्ञान हुआ। यह अनुभव होते ही मेरी यह कमजोरी ज़ोर से मुझे सताने लगी, और इसीके साथ-साथ जिज्ञासा की अमिट जागृति हुई, जो आज भी निरन्तर जारी है।

नौ-दस साल की उम्र में 'सुखसागर' और 'भारतसार' मैं पढ़ गया था, इसके कारण हमारी प्राचीन कथाओं से मैं काफी-परिचित हो गया। अब हिन्दी के ज्ञान के सहारे जो भी हिन्दी-पुस्तक मुझे मिली, उसे हज़म करने लगा। उन दिनों हिन्दी का साहित्य काफ़ी कमज़ोर था, पर जो भी मिला, उसीसे

सन्तोष किया। बम्बई में रहने के कारण गुजराती भाषा का मुझे ठीक ज्ञान हो गया था, इसलिए हिन्दी-साहित्य की कमी को गुजराती से भरने की कोशिश करने लगा। गुजराती-साहित्य काफी पढ़ जाता था। पर जब अंग्रेजी अखबार पढ़ने का प्रयत्न किया, तो अंग्रेजी-शब्दावली का स्वल्प ज्ञान मेरे रास्ते में बाधक होने लगा। उससे युद्ध करने के लिए डिक्शनरी की मैंने शरण ली। साथ में कॉपी-बुक की भी सहायता ली। डिक्शनरी में शब्दार्थ देखकर कॉपी-बुक में उस शब्द का अर्थ लिख लेता था, और शब्द के उच्चारण और अर्थ को रट-रटकर याद करता रहता था। बम्बई में रहने के कारण लोगों को इधर-उधर अंग्रेजी में बात करते सुनता था, इससे भी उच्चारण सुधारने का मौका मिल जाता था।

इसके बाद तो सोलह साल की आयु में मैंने कलकत्ते में स्वतंत्र व्यवसाय शुरू कर दिया। इस व्यवसाय के सिलसिले में मेरा अंग्रेज और अमरीकी लोगों से काफी सम्पर्क बढ़ा। इस सम्पर्क से मुझे अंग्रेजी का ज्ञान बढ़ाने का अच्छा अवसर मिला। मेरा शब्द-कोश समृद्ध होने लगा। नये-नये मुहावरे भी आने लगे और उच्चारण भी सुधरने लगा।

पर केवल भाषा ही तो विद्या नहीं है। महत्त्वपूर्ण विषयों का अभाव मुझे खटकने लगा। जब विदेशियों से बात करता, और वे लोग किसी गम्भीर विषय की चर्चा करते तो मैं अपने को गहरे सागर में पाता। 'हंसमध्ये बको यथा' जैसी अपनी हालत देखकर मुझे शरम और परेशानी सताने लगी। इसका मुक़ाबला करने के लिए एकमात्र सहारा था पुस्तकों का।

मास्टर या अध्यापक रखना पसन्द नहीं था। समय भी कोई निश्चित नहीं था कि उसी समय मास्टर को बुलाऊँ। इसलिए एकमात्र उपाय था पुस्तकों द्वारा ज्ञान ढूँढ़ना। हिन्दी और गुजराती पुस्तकों की परिधि से बाहर निकलकर अब मैंने अंग्रेजी-साहित्य का आश्रय लेने का सोचा और विचार को कार्यरूप में परिणत भी कर दिया। इससे मेरा भाषा का ज्ञान भी सुधरा और नये-नये विषयों का भी ज्ञान-संचय होने लगा। हिन्दी, गुजराती और कुछ संस्कृत से तो मैं परिचय पा गया था, टूटी-फूटी बँगला भी आती थी। पर अंग्रेजी की कमी ज्यों-ज्यों कम हुई, त्यों-त्यों अन्य जटिल विषयों में प्रवेश करने के लिए अंग्रेजी-साहित्य से मुझे सहायता मिलने लगी।

इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, विभिन्न फिलासफरों की फिलासफी और साइंस जैसे क्षेत्रों में मेरी रुचि बढ़ी और उस रुचि के अनुसार बौद्धिक भोजन भी जुटाने लगा। बड़े लोगों की जीवनियों की जो भी सरल पुस्तक हाथ में आई, उसे चाव से पढ़ गया। रूसो, थॉरो, टॉलस्टाय, सुकरात, प्लाटो, आरिस्टाटल, शेक्सपीयर, गोल्डस्मिथ, डिकेंस वगैरह सबको पढ़ता गया। मार्क्स भी पढ़ गया, हालाँकि शुरू-शुरू में समझने में कठिनाई पड़ी। अर्थशास्त्र के नये या पुराने साहित्य से भी परिचय करने की चेष्टा की, पर जितना पढ़ा, उससे हज़म कुछ ज़्यादा किया। जो पढ़ता, उसपर अपनी स्वतंत्र राय भी क़ायम करता। तिलक के 'गीता-रहस्य' ने हिन्दू-दर्शनों का अनुपम दिग्दर्शन कराने में मुझे सहायता दी। स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थ-प्रकाश' ने खंडन करने की वृत्ति पर प्रकाश डाला।

पर यह नहीं कह सकता कि इन पुस्तकों ने मुझपर कोई प्रभाव डाला। अंग्रेजी के बाद फ्रेंच की ओर भी रुचि बढ़ी। वह भी कुछ सीखी। यह सारा क्रम आज भी चल रहा है।

जिज्ञासा जारी है। कमियों का भान है। **'अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामार्थं च चिंतयेत।'** अपने-आपको मनुष्य अजर-अमर मानकर पढ़ता जाय, यह सबक मैंने सीखा। इसे सीखने से ही मनुष्य अपने अज्ञान की, अपनी तुच्छता की और ईश्वर की महानता की अनुभूति करता है।

कार्य में व्यस्त रहते हुए भी पढ़ने के लिए मुझे अब भी समय मिल ही जाता है। साल में पन्द्रह-बीस अच्छी पुस्तकें भिन्न-भिन्न विषयों पर पढ़ लेता हूँ। इसके माने यह नहीं कि पुस्तक की एक-एक पंक्ति पढ़ डालता हूँ। पुस्तक के सार की तरफ अधिक आकर्षण रहता है, बनिस्बत उसके निरर्थक बनाव-शृंगार के। जैसाकि विनोबाजी ने कहा है, "मैं सन्तरे खाता हूँ, पर उसके छिलके या बीज नहीं"; मैं पुस्तक पढ़ता हूँ, पर उसके बनाव और शृंगार को नहीं।

शिक्षा-सम्पादन की इस मेरी अजीब पद्धति से यह पक्का स्वभाव बन गया कि बिना शिक्षक की सहायता से ही विद्या-उपार्जन करने की कोशिश करूँ। इसलिए जो भी कुछ स्कूल छोड़ने के बाद सीखा, वह अपने खुद के परिश्रम से और पुस्तकों की सहायता से। गुरु से सीखने के प्रति मेरी अरुचि शायद शुरू से ही रही है, और यह अरुचि अब स्वभावतया इस उम्र में और भी बढ़ गई। संगीत भी सीखा और सीखना अब भी जारी है, पर सीखा रेकार्डों की बदौलत।

कुछ ऐसा लगता है कि हमने गुरु पर आवश्यकता से अधिक बोझ लाद दिया है। गुरु का आवश्यकता से अधिक सहारा लिया है। यह मेरी समझ में मानसिक आलस्य के लक्षण हैं।

गुरुः ब्रह्मा, गुरुः विष्णुः गुरुः देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मात् श्री गुरवे नमः ॥

यहाँ 'तस्मै' के स्थान पर 'तस्मात्' पाठ रखकर इसका अर्थ कुछ भिन्न लगाना चाहिए। अर्थात् गुरु ब्रह्मा ही है, गुरु विष्णु ही है, महेश्वर ही है और परब्रह्म ही है, इसलिए गुरु अर्थात् ईश्वर को नमस्कार करता हूँ। ईश्वर कहो, परमात्मा कहो या अपनी आत्मा कहो, तात्पर्य एक ही है। मेरा खयाल है कि मनुष्य को स्वयं ही अपने-आप का गुरु बनना चाहिए। दत्तात्रेय ने पशु-पक्षियों तक से सीखा, पर स्वयं ही तो सीखा। गेलीलियो, एडीसन, बेंजामिन फ्रेंकलिन, जेम्स वाट, मैडम क्यूरी इन सबने नये-नये आविष्कार गुरु से सीखकर नहीं किये, खुद अपने-आप ही किये। इसलिए मनुष्य गुरु का अनावश्यक आश्रय न लेकर स्वयं अपने-आप को गुरु बनाये, तभी वह प्रगति कर सकता है। तोते की तरह रटंत करनेवाला तो तोता ही रह जाता है।

पर मेरी इस पद्धति का सभी अनुसरण न करें, क्योंकि इसमें भय भी है। पर एक चीज़, जिसका मैं ज़ोरों से समर्थन करना चाहता हूँ, वह यह है कि जो छात्र स्कूल या कालेज में अध्ययन करते हैं, वे घर पर अध्यापक को बुलाकर न पढ़ें। अमरीकी पद्धति यह है कि कालेज में प्रोफेसर छात्रों को कुछ

पढ़ाते हैं और घर पर उनको पुस्तकों के अध्ययन से ज्ञान-उपार्जन करना पड़ता है; अध्यापक छात्रों को एक काल्पनिक परिस्थिति देते हैं और उनसे, उस परिस्थिति को सुलझाने का कौन-सा तरीका हो सकता है, यह पूछते हैं। इसे 'क्विज़' कहते हैं। हर हफ़्ते ये 'क्विज़' छात्रों को मिलते हैं। उन्हें स्वतंत्र अध्ययन करके उसका उत्तर भेजना पड़ता है। यही उनकी परीक्षा है। और सही उत्तर के माने हैं परीक्षा में उत्तीर्ण होना।

हमारे यहाँ की परीक्षा की पद्धति से यह बिलकुल निराली है और अच्छी है, क्योंकि छात्र को यह स्वावलम्वी बनाती है। यदि छात्र उत्तीर्ण नहीं होता तो वह लम्बा अर्सा लेकर उत्तीर्ण होने की क़ोशिश करता है। पर हर हालत में उसे स्वतंत्र विचार और अध्ययन करना पड़ता है। इसलिए घर पर प्रोफेसर को बुलाकर पढ़ना और उसका आश्रयी बनना, यह छात्र की स्वतंत्र बुद्धि को नष्ट कर देता है और उसे गुलाम बना देता है। इसलिए इतनी सिफारिश तो अवश्य करूँगा कि विद्या के अर्थी स्वतंत्र बनें, गुरु के आश्रयी न बनें।

मेरा यह भी मानना है कि गुरु सर्वविद् नहीं होते। गुरु भी कई अंशों में उतना ही बुद्धू है, जितने कि हम सब हैं। मैंने बड़े-बड़े विद्वानों को मूर्खता की बातें करते पाया है। एक बड़े विद्वान् ने मुझे चकित कर दिया, जब उसके मुँह से सुना कि उसकी कौटुम्बिक दुर्गा सवा रुपये का प्रसाद पाकर उसे बड़ी-बड़ी आफतों से ऐन मौक़े पर बचा लेती है! वैज्ञानिकों को मैंने भूत-प्रेत की बात करते सुना है। इंग्लैण्ड के एक बड़े वैज्ञानिक भूतात्मा को बुलाकर उससे वार्तालाप करने का दावा

करते थे। यहाँ भी ऐसे अंध-भक्तों को देखा है, जो कहते हैं कि उन्हें पेंसिल से लिखकर प्रेतात्मा परलोक का हाल बताती है! भोले लोग चाहे अष्टग्रह और ऐसी-ऐसी अनहोनी बातों पर विश्वास करें, पर पढ़े-लिखे लोग भी ऐसी बातें करें, तो मान लेना, यह अज्ञान की निशानी है। सो मूर्खता का ठेका अपढ़ों के पास ही नहीं है, पढ़े-लिखे लोग भी जादू, मंत्र, ज्योतिष, भूत-प्रेत और अन्य वहमों के उतने ही शिकार हैं, जितने कि ग्रामीण अनपढ़।

न किसी एक पुस्तक को ही सम्पूर्ण मानना चाहिए, चाहे वह कितनी ही 'आप्त' क्यों न हो। आप्त प्रमाण मानना ही चाहिए, ऐसे विश्वास में काफी खतरा है। इसलिए गुरु का वाक्य या किसी ग्रंथ का वाक्य अभ्रान्त है, ऐसा मानने में बुद्धि का ह्रास है। मेरा आग्रह यह है कि हम निरालम्ब होकर ही जिज्ञासा की तृप्ति करें। इसके यह माने नहीं कि हम अपने अग्रज विद्वानों और महापुरुषों के अनुभव का लाभ न लें, पर लाभ भी तभी मिलेगा, जब हम हर पुराने विचार का स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय करें, स्वतंत्रतापूर्वक उसे बुद्धि की कसौटी पर कसकर स्वतंत्र निर्णय करें। इस दृष्टि से मैं महज़ श्रद्धा का अत्यन्त विरोधी हूँ। ईश्वर में मेरी श्रद्धा है। वह इसलिए कि बुद्धि के प्रयोग से हम देखते हैं, अनुभूति करते हैं कि कोई ऐसी शक्ति है, कोई ऐसा कुदरत का क़ानून है, जो विश्व के तंत्र को सुचारु रूप से चलाता है। हायड्रोजन का आणविक वजन निरन्तर १ ही क्यों रहता है चाहे हम उसे कितना ही उलट-पुलट क्यों न करें, और

0152,6M94x
K6;2

ऑक्सिजन का १६ ही क्यों? सूर्य-मंडलके चारों ओर ग्रह निरन्तर एक ही शुद्ध गति से क्यों घूमते हैं? और, अणु के प्रोटीन के चारों ओर ग्रहों की तरह इलेक्ट्रोन क्यों एक ही चाल से निरन्तर घूमते रहते हैं? यह सादृश्य क्यों है? इसका उत्तर वैज्ञानिक भी नहीं दे सके; क्योंकि वैज्ञानिकों का निर्णय है कि साइंस की चरम सीमा से ही ईश्वर का आरम्भ होता है। यह कोरी श्रद्धा की बात नहीं है। हमारी बुद्धि बताती है कि जो कुछ विश्व का व्यवहार चलता है, वह महज़ आकस्मिक नहीं, बल्कि उसके पीछे कोई सत्ता है। इसे ईश्वर कहो, प्रकृति कहो, कुदरत का क़ानून कहो, इससे कोई बहस नहीं; पर जिसके पीछे स्वतंत्र विचार न हो, ऐसी खालिस श्रद्धा आलस्य और मूर्खता की निशानी है। 'बुद्धौ शरणं अन्विच्छ', तू बुद्धि की शरण ले! जो सीखा वह पूर्ण नहीं है। 'नेति नेति' इस सिद्धान्त का क़ायल होने से मैं कोरी श्रद्धा का बिलकुल हिमायती नहीं हूँ।

मैंने स्कूल और कालेज की शिक्षा नहीं पाई, इसका कोई पछतावा नहीं, क्योंकि इसके लाभ और हानि को जानता हूँ। हानि तो प्रत्यक्ष है, कालेज में पढ़ता तो कई बातें ज्यादा जानता, मेरा कुछ अंशों में मार्ग सुगम होता; पर लाभ यह है कि बुद्धि को स्वतंत्रता के साथ विचारने की आदत पड़ गई। अध्यापक के पास पढ़ने से यदि छात्र में श्रद्धा हो तो अध्यापक का बुरा असर भी पड़ जाता है। बताया गया था कि तत्त्व पाँच होते हैं। पीछे से पता चला कि तत्त्व तो एक सौ से अधिक हैं और नये-नये भी प्रकट हो रहे हैं। अध्यापक की सिखाई ग़लतियों

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
वाराणसी। 2008

को सुधारने में समय अधिक लगता है, बनिस्बत अपनी की गई ग़लती सुधारने के। इसके लिए दिमाग़ की खिड़की खुली होनी चाहिए। अश्रद्धा से सनी हुई श्रद्धा ही मनुष्य को संस्कृत विचार देती है।

शिक्षा कैसी हो?—इसपर भी वाद-विवाद है।

शिक्षण-क्रम के सम्बन्ध में हर मुल्क में असंतोष रहा है। क्या परिवर्तन हो, इसपर भी भिन्न-भिन्न मत रहे हैं। पर इसका निर्णय महज़ विद्वानों का ही क्षेत्र नहीं है। मेरे-जैसे लोगों को भी, जिन्होंने संसार की पाठ्य पुस्तकों से ही अनुभव प्राप्त किया है, राय देने का अधिकार तो है ही। इस अधिकार के नाते मेरा ख़याल है कि कुछ मूलभूत सिद्धान्तों पर तो राय क़ायम हो ही सकती है। हाँ, राय देना सहज है, पर उस राय को कार्यान्वित करने के लिए क्या करना चाहिए, यह कठिन समस्या है; और यह विशेषतया शिक्षकों के क्षेत्र की बात है।

मूलभूत सिद्धान्तों में हम अपनी राय दें, तो एक तो मेरा यह आग्रह है कि छात्रों की शिक्षा एकांगी नहीं होनी चाहिए। उनका पठन विविध विषयों का होना चाहिए, अर्थात् विज्ञान या इंजीनियरिंग का छात्र महज़ लैबोरेटरी या वर्कशाप तक ही सीमित न रहे, उसका दायरा अन्य क्षेत्रों में भी थोड़ा-थोड़ा होना चाहिए। आजकल ह्यूमेनिटी के नाम से अन्य विषयों का भी विज्ञान और इंजीनियरिंग की शिक्षा में प्रवेश हुआ है, पर यथेष्ट नहीं। बात तो यह है कि आर्ट का छात्र थोड़ी-थोड़ी साइंस और इंजीनियरिंग जाने, और साइंस और इंजीनियरिंग के छात्र इतिहास, फिलासफी भी कुछ

मात्रा में जानें, यह आवश्यक है। कुछ-कुछ सब विषयों का और अत्यधिक एक विषय का ज्ञान हो, पाठ्यक्रम की बुनियाद ऐसी होनी चाहिए।

आज की परीक्षा की पद्धति को बदल देना चाहिए। परीक्षा छात्र के ज्ञान की हो, न कि परचे की। छात्र की सफलता-असफलता का निर्णय उसके ज्ञान और व्यवहार, उसकी नेतृत्व-शक्ति इत्यादि से करना चाहिए।

नैतिक शिक्षा का अभाव दूर करना चाहिए। छात्र को सिखाना चाहिए कि वह जाति-पाँति और प्रान्त के बंधनों से अपना विकासोन्मुख व्यक्तित्व खो बैठेगा। तरह-तरह के वहमों से उसे मुक्त होना चाहिए। स्वतंत्र विचार करने की शक्ति को पोषण देना चाहिए।

पर यह सब कहना आसान है, इसे कार्यान्वित करने में परिश्रम और उड़ान की ज़रूरत है। मुख्य वस्तु, जो इसमें सहायक हो सकती है, वह है अध्यापक और संस्था का वातावरण। अध्यापक का पद प्रतिष्ठा का होना चाहिए। वेतन खासा अच्छा देना चाहिए। संस्था की सफाई, सुघड़ाई पर भी ज़ोर होना चाहिए।

यह सब होते हुए भी असल वातावरण तो छात्र के कुटुम्ब का है; और कुटुम्ब का वातावरण उज्ज्वल तब होगा, जबकि देश सुशिक्षित और संस्कृत होगा। ये सब चीज़ें अन्योन्याश्रित हैं।

इसके माने यह हैं कि धीरज से आगे बढ़ना पड़ेगा। एक दिन में कोई भारी परिवर्तन हो जाय, ऐसी आशा 'आकाश-

कुसुम' के समान है। पर उद्योग करना है और आदर्श संस्था स्थापित करनी है। कठिनाइयाँ तो आती ही रहेंगी। संघर्ष मनुष्य का धर्म है। 'मामनुस्मर युद्ध्य च'---भगवान् के भरोसे आगे बढ़ते जाना है। पर शायद यह विषयांतर हो गया।

२० दिसम्बर, १९६२

: ३ :

मेरे जीवन में गांधीजी

गांधीजी के साथ मेरा पहला संपर्क सन् १९१५ में हुआ, जबकि दक्षिण अफ्रीका से लौटने के थोड़े ही दिनों बाद वे कलकत्ता आये थे। पूरे ३२ वर्ष, अर्थात् दिल्ली-स्थित मेरे मकान में उनके स्वर्गवास तक, यह सम्पर्क बना रहा। मैं उनके सम्पर्क में आया कैसे? भाग्य के अदृश्य हाथ बड़े रहस्यमय ढंग से सूत्र-संचालन किया करते हैं। मेरे जीवन के इस सौभाग्यशाली मोड़ का सारा श्रेय भी इन्हीं अदृश्य हाथों को है। मेरे पीछे कोई राजनैतिक पृष्ठभूमि नहीं थी। इसलिए किसी विश्व-विख्यात व्यक्तित्व का कृपाभाजन बनने की योग्यता मुझमें नहीं के ही बराबर थी। मेरा जन्म सन् १८९४ में एक ऐसे गाँव में हुआ था, जिसकी आबादी मुश्किल से तीन हजार होगी। गाँव भी ऐसा, जहाँ बाकी दुनिया से सम्पर्क के लिए कोई भी आधुनिक यातायात-साधन नहीं था। न रेल, न पक्की सड़क, न डाक-घर—दुनिया की राजनैतिक हलचलों से एकदम असम्बद्ध। आवागमन के साधन या तो ऊँट अथवा घोड़े थे, या रथ-बहली, जो खासकर अमीर लोग ही रखते थे और जिनका इस्तेमाल ज़्यादातर औरतों या अशक्त लोगों के लिए होता था। घोड़े इक्के-दुक्के ही थे और ज़्यादातर जागीरदारों की सवारी के ही काम आते थे। ऊँट ही यहाँ यात्रा के लिए सबसे ज़्यादा

उपयोगी पशु रहा है। हमारे परिवार में दो बहुत बढ़िया ऊँट थे और बाद में हम लोगों के यहाँ एक रथ भी था। किन्तु लोग दूर का सफर ऊँट पर करना ही पसन्द करते थे। मुझे तो उसकी सहनशीलता, धीरज और मूढ़ता ने हमेशा अपनी ओर आकर्षित किया है। उन दिनों की याद मुझे आज भी झकझोर जाती है, जब एक बार लगातार छः दिन तक ऊँट पर सफर करना पड़ा था।

चार साल की उम्र में मुझे पढ़ाने के लिए अध्यापक रक्खे गए, जो पढ़ने-लिखने की अपेक्षा गणित ज़्यादा जानते थे। इस तरह मेरी शिक्षा का श्रीगणेश अंक-ज्ञान, जोड़-बाक़ी, गुणा-भाग से हुआ। नौ वर्ष की उम्र में मैंने अंग्रेजी की थोड़ी-सी जानकारी के साथ कुछ पढ़ना-लिखना सीख लिया और फिर सिर्फ ग्यारह साल की उम्र में प्यारेचरण सरकार की 'फर्स्ट बुक ऑव रीडिंग' के साथ मेरी शिक्षा समाप्त भी हो गई।

मेरे प्रपितामह एक व्यापारी पेड़ी पर सिर्फ दस रुपये माहवार पर 'मनेजर' थे। उनके देहान्त के बाद मेरे पितामह ने अठारह साल की अवस्था में अपना स्वतंत्र व्यवसाय शुरू करने का निश्चय किया और वे समृद्धि की खोज में बंबई पहुँचे। बाद में मेरे पिताजी ने व्यापार को बढ़ाया और मेरे जन्म के समय तक हमारी गणना काफी सम्पन्न परिवारों में होने लगी थी। करीब पैंतीस वर्ष से हमारा व्यापार उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ चलता आ रहा था। अतः जब मेरी उपयुक्त शिक्षा समाप्त हुई तो मुझे भी अपने वंशगत व्यापार में जोत दिया गया। लेकिन मुझे पढ़ने का शौक था। स्कूल छोड़ने के बाद

भी अपने ही ढंग से मैंने पढ़ना चालू रक्खा। अध्यापक से पढ़ना मुझे पसन्द नहीं था। इसलिए स्कूल छोड़ने पर किताबें, अखबार और शब्द-कोष ही मेरे मुख्य शिक्षक रहे।

इस भाँति मैंने अंग्रेजी, संस्कृत तथा एक या दो अन्य भारतीय भाषाएँ, इतिहास और अर्थशास्त्र पढ़े। मैंने काफी संख्या में जीवन-चरित तथा यात्रा-विवरण भी पढ़े, जिनका मुझे अभी भी शौक़ है।

हो न हो, मेरे अध्ययन ने ही मुझे देश की राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील बनने तथा तत्कालीन राजनैतिक नेताओं के साथ सम्पर्क कायम करने की प्रेरणा दी थी। रूस और जापान के युद्ध ने एशियाई राष्ट्रों में उत्साह की लहरें पैदा कर दी थीं और भारत भी अपनेको इससे अलग नहीं रख सका। मेरे बाल-हृदय की सहानुभूति निश्चय ही जापान के साथ थी और भारत को फिर से स्वाधीन देखने की आकांक्षा मेरे भीतर हिलोरें मारने लगीं। लेकिन जिस परिवार, गाँव या जाति में मेरा जन्म हुआ था, उसको राजनीति के प्रति मेरी दिलचस्पी उतनी भली नहीं लगती थी।

मेरे ये मनोभाव गांधीजी के प्रति मुझे आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं थे। मेरी यही धारणा है कि भाग्य की दया ने ही मुझे उनके पास तक पहुँचाया।

जब मैं सोलह वर्ष का हुआ, मैंने दलाली का अपना स्वतंत्र व्यवसाय शुरू किया। यहीं से अंगरेजों के साथ मेरे सम्पर्क का प्रारम्भ हुआ। उनमें मेरे साहूकार और ग्राहक दोनों थे।

इसी प्रसंग में मुझे उनकी समुन्नत व्यापारी-प्रणालियाँ, संगठन-शक्ति और अन्य अनेक विशेषताएँ देखने का अवसर मिला। साथ ही इनका जातिगत अभिमान भी मुझसे छिपा नहीं रह सका। मैं इनके यहाँ जाने के लिए न तो उनके लिफ्ट का ही व्यवहार कर सकता था और न इनसे मिलने की प्रतीक्षा करते समय इनकी बेंचों पर ही बैठ सकता था। इस प्रकार के अपमान-जनक व्यवहार से मैं तिलमिलाकर रह जाता था। इसी ठेस ने मेरे भीतर राजनैतिक दिलचस्पी पैदा की, जिसे मैं सन् १९१२ से आजतक निभाता चला आ रहा हूँ। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक तथा श्री गोखले को छोड़कर और कोई राजनैतिक नेता नहीं, जिसके सम्पर्क में मैं नहीं आया। देश का कोई ऐसा राजनैतिक आन्दोलन नहीं रहा, जिसमें मैंने दिलचस्पी न रक्खी हो, अथवा अपने ढंग से उसे मदद न दी हो।

इन दिनों एक बार आतंकवादियों से सम्बद्ध हो जाने के कारण मुझे काफी परेशानी उठानी पड़ी और लगभग तीन महीने के लिए गुप्त वास में रहना पड़ा। कुछ सहृदय मित्रों के हस्तक्षेप से ही मैं जेल जाने से बच सका। वास्तव में, आतंक-वाद के प्रति मेरा विशेष अनुराग कभी नहीं रहा और गांधीजी के सम्पर्क में आने के बाद तो उसका रहा-सहा अस्तित्व भी खत्म हो गया।

इस पृष्ठभूमि के साथ यह स्वाभाविक ही था कि मैं गांधी-जी की ओर आकृष्ट होने का तक़ाज़ा महसूस करता। एक आलोचक के रूप में मैं उनके निकट आया और अन्त में उनका अनन्य भक्त बन गया। फिर भी यह कहना बिल्कुल असत्य

होगा कि गांधीजी के साथ सब विषयों पर मेरा मेल खाता था। वस्तुतः अधिकांश समस्याओं पर मेरा अपना निजी मत था। रहन-सहन के बारे में हम दोनों में कोई साम्य नहीं था। गांधीजी एक सन्त पुरुष थे, जिन्होंने जीवन के सारे सुख-भोगों का त्याग कर दिया था। धर्म ही उनका मुख्य विषय था, जिसने मुझे इतने आग्रह के साथ उनकी ओर खींचा। अर्थशास्त्र के बारे में भी उनका दृष्टिकोण मुझसे भिन्न था। वे छोटे पैमानेवाले उद्योग-धंधों—चर्खे, करघे, घानी आदि—में विश्वास रखते थे। इसके विपरीत मैं काफी सुख-सुविधा की ज़िन्दगी बिताता और बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के माध्यम से देश के औद्योगीकरण में विश्वास करता था। इतने पर भी हम दोनों के बीच इतना घनिष्ठ संबंध कैसे बना रहा ? मैं क्यों उनके विश्वास और स्नेह को प्राप्त करता रहा ?—इसके लिए मैं तो मुख्यतः उनकी महानता और उदारता का ही आभार मानता हूं। मुझे ऐसे लोग कम ही मिले हैं, जिनमें गांधीजी का-सा आकर्षण हो और जो अपने मित्रों के लिए इतना स्नेह और अनुराग रखते हों। संसार के लिए सन्त उत्पन्न करना बहुत कठिन नहीं है, राजनैतिक नेता भी दुनिया में काफी पैदा होते रहते हैं; मगर सच्चे मानव इस दुनिया में कम ही मिलते हैं। गांधीजी मानवों में एक महामानव थे। ऐसी विरल विभूतियाँ धरती प्रत्येक सदी में पैदा नहीं करती और अभी तक लोगों ने गांधीजी के मानव-रूप के बारे में जाना ही कितना थोड़ा है !

मैंने कहा, बहुत-सी समस्याओं पर गांधीजी के साथ मेरा मेल नहीं खाता था, फिर भी उनका कोई आदेश मानने से

मैंने कभी इन्कार नहीं किया। दूसरी ओर उन्होंने भी मेरे विचार-स्वातंत्र्य को सहन-भर ही नहीं किया, बल्कि इसके लिए वे मुझे उतना ही ज़्यादा प्यार भी करते रहे, जितना कोई पिता अपने बच्चे को करता है। इसीलिए हमारा संबंध एक तरह से पिता-पुत्र के पारिवारिक लगाव-जैसा हो गया था, जो उनके जीवनकाल तक बराबर अक्षुण्ण बना रहा।

अंतिम बार उनके जो दर्शन मैंने किये, वे उनके भौतिक अवशेष-मात्र के थे। यह भाग्य की क्रूरता थी कि जब उन्होंने अन्तिम सांस ली तो मैं उनके पास नहीं था। उनके निधन के केवल दस घंटे पूर्व ही मैं उनसे अलग हुआ था। मुझे अपने गाँव, जो दिल्ली से १२० मील दूर है, जाना पड़ा था। वहाँ मैं एक प्रमुख मंत्री को अपनी शिक्षा-संस्थाओं का निरीक्षण कराने के लिए ले गया था। मैंने सात बजे सुबह अपना घर छोड़ा था। प्रस्थान से पूर्व मैं गांधीजी के कमरे में उनसे विदा लेने गया था। लेकिन वे विश्राम की गहरी नींद में सो रहे थे, इसीलिए मैंने उन्हें जगाया नहीं। इसके दस घंटे बाद पिलानी में मेरा पुत्र मेरे पास दौड़ा हुआ आया और उसने मुझे बताया कि रेडियो ने घोषित किया है—"हत्यारे ने गांधीजी को गोली मार दी।" मैं विश्वास न कर सका, लेकिन कबतक अविश्वास करता!

तत्काल दिल्ली लौट जाना संभव नहीं था। अभी भी हमारा गाँव रेल या सड़क से संबद्ध नहीं है। मुझे रात वहीं बितानी पड़ी। नींद बीच-बीच में उचट जाती थी। मैंने सपना देखा कि मैं दिल्ली के अपने घर में वापस चला गया

हूँ, जहाँ गांधीजी रहते थे और जहाँ उनका देहान्त हुआ था। मैं उस कमरे में गया, जहाँ उनका शव रक्खा हुआ था। मेरे कमरे में प्रवेश करते ही वे उठ बैठे और बोले, "मुझे खुशी है कि तुम वापस आ गए। यह गोली-कांड कोई निरुद्देश्य घटना नहीं थी, वरन् एक गहरा षड्यंत्र था। लेकिन मैं खुश हूँ कि उन्होंने मेरा अन्त कर दिया। मैं अपना काम कर चुका हूँ और इस प्रस्थान का मुझे ज़रा भी दुःख नहीं है।" कुछ देर तक हम लोग बातें करते रहे। उसके बाद उन्होंने अपनी घड़ी निकाली और कहा, "अब शव-यात्रा का समय हो गया है। लोग मुझे ले जाने आयेंगे, इसलिए मैं लेट जाता हूँ।" वे पुनः लेट गए और निःस्पन्द हो गए। कैसा अद्भुत स्वप्न ! शायद यह मेरे अपने हृदय की ही प्रतिध्वनि थी।

दूसरे सुबह मैं दिल्ली लौटा और उस कमरे में गया, जिसमें उनका मृत शरीर रक्खा हुआ था। लाखों की जन-मेदिनी से बिड़ला-भवन घिरा था। गांधीजी का शरीर पड़ा था शान्त, अविचल। ऐसा नहीं प्रतीत होता था कि वे मर गए हैं। यही था उनका अन्तिम दर्शन, जो मैंने किया। १६ जून, १९४० के एक पत्र में महादेवभाई ने मुझे लिखा था—"लार्ड लिनलिथगो के प्राइवेट सेक्रेटरी का एक पत्र आया है, जिसमें उन्होंने लिखा है—"जर्मन वायरलैस ने यह खबर प्रचारित की है कि ब्रिटेन के गुप्त एजेंट गांधीजी की हत्या करने की योजना बना रहे हैं। इच्छा विचार की जननी है और इसीलिए आशंका है, कदाचित् जर्मनी के एजेंट ब्रिटेन के विरुद्ध प्रचार करने के उद्देश्य से इस तरह की कुछ योजना बनायें। पहले से ही सतर्क रहना

हममें से प्रत्येक के लिए हितकर होगा। अतः गांधीजी स्वीकार करें और उनके काम में विघ्न न पड़े तो रक्षा के लिए पुलिस की पूरी व्यवस्था करने में हिज एक्सेलेंसी को बड़ी खुशी होगी।"

महादेवभाई ने इसका उत्तर दिया था—"गांधीजी ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं चाहते। जीवन-भर हत्या की धमकी से घिरे रहकर, अनुभव के आधार पर, उन्होंने यह धारणा दृढ़ बना ली है कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता तक हिल नहीं सकता। न कोई हत्यारा किसीके जीवन की अवधि कम कर सकता है और न कोई मित्र ही किसीको मृत्यु से बचा सकता है।" मुझे लिखे पत्र में महादेव ने लिखा था कि वह उत्तर बापू की ही भाषा में लिखा गया था।

उनके अन्त के आठ साल पहले से ही घटनाएँ कितनी खूबी से अपनी छाया फैला रही थीं, लेकिन इस नियति का निमित्त न तो कोई जर्मन बना और न कोई अंगरेज ही। वह हत्यारा तो था एक भारतीय, एक कट्टर हिन्दू!

गांधीजी को बम द्वारा मारने के निष्फल प्रयत्न के बाद सरकार द्वारा उनकी सुरक्षा की बड़ी सुदृढ़ व्यवस्था की गई थी, यहाँ तक कि मेरे घर के कोने-कोने में सन्तरी तथा सादी पोशाक वाले हथियारबंद पुलिस चक्कर काटते दीख पड़ते थे। इतनी ज्यादा सतर्कता मुझे अच्छी नहीं लगी।

सन् १९१३ में तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंज बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय का शिलान्यास करने गये हुए थे। इसके पूर्व जब वे नई राजधानी में समारोहपूर्वक प्रवेश कर रहे थे, तो उनपर एक बम फेंका गया था। इसलिए बनारस में उनकी

हिफ़ाज़त के लिए काफी बड़ी व्यवस्था की गई थी। तालाबों तक में बंदूकों और रिवाल्वरों से लैस पुलिस तैनात की गई थी। गांधीजी को यह सब आडम्बर नापसंद आया और उन्होंने सरे-आम इसकी आलोचना करते हुए कहा था कि इस तरह तो वायसराय लार्ड हार्डिंज ज़िन्दगी में ही मौत के दिन बिता रहे हैं।

मैंने गांधीजी के सामने उनके इस अभिमत को दुहराया और कहा, "क्या यह अनुचित नहीं लगता कि हम प्रार्थना भी बन्दूकों की छाया में करें? आपका जीवन अत्यन्त मूल्यवान् है, लेकिन उससे भी ज्यादा मूल्यवान् है आपकी कीर्ति। अतः क्या आप इस भाँति पुलिस का अतिशय प्रबन्ध पसन्द करते हैं, जबकि आपने आजीवन इससे घृणा की है?"

गांधीजी ने मेरे साथ सहमत होते हुए कहा, "इस संबंध में वल्लभभाई से बातें करो, जो इस सारे प्रबन्ध का जिम्मेदार है। मैं इस तरह के प्रबन्धों से नफरत करता हूँ। लेकिन मुझे यह सब अपनी रक्षा के लिए नहीं, बल्कि सरकार की कीर्ति-रक्षा के लिए सहन करना पड़ता है।" मैंने सरदार से भी बाद में इस प्रसंग में बातें कीं और जैसी कि उनकी आदत थी, उन्होंने थोड़े में ही जवाब दिया, "तुम इसके लिए क्यों चिंता कर रहे हो? यह तुम्हारा काम नहीं है, यह जिम्मेदारी मेरी है। अगर मेरा बस चलता तो बिड़ला-भवन में प्रवेश करनेवाले हर आदमी की मैं तलाशी लेता। लेकिन बापू मुझे ऐसा नहीं करने देते।" आखिर दुर्भाग्य की क्रूर इच्छा पूर्ण हुई। जैसा कि गांधीजी की ही भाषा में महादेव ने लिखा था, कोई मित्र

उन्हें नहीं बचा सका। मैं स्वयं अपनी बैल्ट में पिस्तौल छिपाये हुए प्रार्थना में शामिल होता था और उनकी ओर आनेवाले हर आदमी पर नज़र रखता था। लेकिन यह सब हमारा वृथाभिमान था। एक पत्ता भी ईश्वर की इच्छा के बिना नहीं हिलता।

इस घटना के लगभग दो बरस बाद ही दूसरे महान् पुरुष चल बसे, जिनके साथ भी मेरा ऐसा ही प्रगाढ़ सम्बन्ध था। यह थे सरदार पटेल। सरदार हर प्रसंग में महात्मा गांधी के दृढ़तम अनुयायी थे। आत्म-संयम के विषय में तो और भी अधिक। वे लौह-पुरुष कहलाते थे, लेकिन उनकी इस ऊपर से ओढ़ी हुई कठोरता के नीचे कोमलता और उदारता की अपरिमित राशि छिपी रहती थी। वे भी स्वतंत्र विचार के व्यक्ति थे, तो भी हर मामले में, चाहे वह राजनैतिक हो या सामाजिक, वे अपने गुरु के चरण-चिह्नों पर ही चलते थे। व्यक्तिगत तौर पर, अकेले में, वे उनसे झगड़ लेते थे, किन्तु बाहर सदैव उनका अनुकरण ही करते थे। यह कितने अचरज की बात है कि भारत में बहुत-से बड़े-बड़े व्यक्ति गांधीजी के विचारों से असहमत होते हुए भी सदैव उनके अविचल अनुयायी बने रहे ! निःसंदेह मित्रों के प्रति उनके प्रगाढ़ अनुराग और आत्मीय भाव ने ही इस विरोधाभासी चमत्कार को संभव कर दिखाया था। इसीलिए सरदार यद्यपि कुछ प्रसंगों पर उनसे सहमत नहीं होते थे, फिर भी बिना आनाकानी के प्रत्येक अवसर पर वे गांधीजी के इच्छानुसार ही चलते थे। गांधीजी के मृत्यु के बाद सरदार हृदय-रोग से पीड़ित हो गए। गांधीजी की मृत्यु

से उनके हृदय को बड़ा तीव्र आघात लगा था। कोई साधारण मनुष्य होता तो शोक के इस आवेग को रोकर हल्का कर लेता, किन्तु सरदार ने शोक को प्रकट नहीं होने दिया। फलतः यह उनके हृदय में समाकर रह गया। मैं उनके सम्पर्क में उनकी मृत्यु के लगभग अट्ठाइस वर्ष पूर्व आया था। तब से अन्त तक हम दोनों का स्नेह-सम्पर्क अक्षुण्ण बना रहा।

सरदार भी मेरे ही घर में मरे और भाग्य का यह दूसरा व्यंग था कि उनके अन्तिम क्षणों में भी मैं उनके साथ नहीं था। अपनी मृत्यु के चार दिन पूर्व वे दिल्ली से बंबई चले आये थे। मंत्रिगण तथा बहुत बड़ी संख्या में उनके मित्र हवाई अड्डे पर उनको विदा देने आये थे। हवाई जहाज़ के दरवाज़े पर एक कुर्सी पर बैठे हुए उदासी-भरी मुस्कान से उन्होंने प्रत्येक का अभिवादन किया। वे जानते थे कि उनका प्रयाण-काल सन्निकट है। मैं भी जानता था कि वे शीघ्र ही अनन्त यात्रा को प्रस्थान करनेवाले हैं, लेकिन मैंने अपनेको बरबस यह विश्वास दिलाया कि नहीं, अन्त अभी इतना निकट नहीं है। इसके चार रोज़ बाद तो उन्होंने हमेशा के लिए बिदा ही ले ली। अन्त में सरदार का भी मृत शरीर ही मुझे देखने को मिला।

महादेव देसाई का सन् १९४२ में आगाखाँ-महल में देहान्त हो चुका था। यह महल उस समय कारागार में परिवर्तित कर दिया गया था। वह मेरे अभिन्न मित्र थे। अपने प्राण उन्होंने अपने गुरु की गोद में छोड़े। उस समय उनका कोई मित्र उनके निकट नहीं था। सहृदयता की तो मानो वह मूर्ति थे। महादेव का निर्माण महात्माजी के द्वारा हुआ था, किन्तु यह कहना भी

ग़लत नहीं होगा कि कुछ अंशों तक महादेव ने भी महात्माजी को अपने साँचे में ढाला था। महादेव देसाई का व्यक्तित्व भी बड़ा आकर्षक और स्नेहशील था। वह बड़े विद्वान् एवं हृदय-ग्राही थे। जब कभी बापू किसी बात की ज़िद पकड़ लेते तो सिर्फ सरदार और महादेव ही उन्हें अपने पथ से विचलित कर सकते थे। कभी बापू क्रोधावेश में झुकते और कभी मुक्त कहकहे के बाद।

कल्पना कीजिए, यदि ये तीनों आज कुछ वर्षों का और आयुर्बल लेकर पूर्ण स्वस्थ जीवित रहते तो कैसा होता भारत का इतिहास! किन्तु यह तो निरुद्देश्य कल्पना है। मेरा विश्वास है कि कोई भी मनुष्य अपना काम पूरा करके ही इहलोक से प्रस्थान करता है। इसलिए इन मृतात्मजों के प्रति शोक करना निष्प्रयोजन है। अब तो उत्तरदायित्व का भार आज की और भविष्य की पीढ़ी पर है।

१८ जुलाई, सन् १९३५ को मैं श्री बाल्डविन से लंदन में मिला था। वार्तालाप के सिलसिले में उन्होंने निम्नलिखित अभिमत प्रकट किया था—"लोकतंत्र की अपनी ख़ास ख़ामियाँ होती हैं। लेकिन अबतक की शासन-पद्धतियों में यह सर्वोत्तम सिद्ध हुई है। ईश्वर को धन्यवाद है कि इस देश में अधिनायक-तंत्र (तानाशाही) नहीं है। श्रेयोन्मुख अधिनायक-तंत्र अपने तरीक़े पर अच्छी चीज़ है, लेकिन तब तो ऐसे अधिनायक-तंत्र में आपको निष्क्रिय बैठे रहने के सिवा और कुछ नहीं करना रहता। आज यह नहीं हो सकता। लोकतंत्र में आप सबको काम करना पड़ता है और यही है लोकतंत्र की सबसे अच्छी

खूबी। यदि हर व्यक्ति काम करेगा तो भारत में यह प्रयोग अवश्य कृतकार्य होगा। यदि प्रत्येक आदमी काम नहीं करेगा तो लोकतंत्र का यह प्रयोग कभी सफल नहीं हो सकेगा। लोकतंत्र में एक वर्ग ही दूषित हो सकता है। इंगलैंड या भारत में ऐसे वर्ग मौजूद हैं, जो दूषित होंगे ही; किन्तु हमें इन वर्गों के आधार पर सारी जनता का मूल्यांकन नहीं करना चाहिए; और कांग्रेस का जहाँ तक सवाल है, उसे तो यह बात महसूस कर ही लेनी चाहिए कि देशहित का अभी बहुत बड़ा क्षेत्र उसके सामने पड़ा है।"

लोकतंत्रात्मक सरकार की स्थापना का दायित्व ग्रहण करने के बाद, बापू ने १८ जुलाई १९३७ को मुझे लिखा था—"हमारी वास्तविक कठिनाई तो अब शुरू होती है। हमारा भविष्य हमारी दृढ़ता, सत्य-निष्ठा, साहस, संकल्प, उद्यम और अनुशासन पर निर्भर करता है। जो तुम करते आ रहे हो, वह अच्छा है।...आखिर जो कुछ किया गया है, वह ईश्वर के नाम पर और ईश्वर में आस्था के साथ किया गया है। तुम श्रेष्ठता प्राप्त करोगे। तुम श्रेष्ठ बने रहो। आशीर्वाद!"

श्री बाल्डविन ने कहा था—"लोकतंत्र में सबको काम करना पड़ता है।" बापू ने ज़ोर दिया कि हमारा भविष्य हमारी दृढ़ता, सत्यनिष्ठा, साहस, संकल्प, उद्यम और अनुशासन पर निर्भर करेगा। दोनों ने एकही बात दो ढंग से कही। ये दोनों उपदेश हमारे पथ के दीपस्तम्भ बनें!

: ४ :

गांधीजी के साथ पन्द्रह दिन

जंगल की ओर से एक बैलगाड़ी को तेज़ी से दौड़ाते हुए तीन वृद्ध किसान आ रहे थे। गांधीजी को देखकर सहसा उन्होंने गाड़ी रोकी। बड़ी फुर्ती के साथ अटपटे-से एक के बाद एक ने उतरकर गांधीजी के चरणों में अपना सिर टेका और चुपचाप जैसे आये, वैसे ही गाड़ी में बैठकर आगे चल दिये। न कुशल पूछी, न क्षेम। न अपना दुखड़ा रोया, न आँसू बहाया। वे खूब जानते हैं कि गांधीजी का हरएक साँस तो ग़रीब के लिए ही निकलता है, इसलिए उन्हें कहें तो क्या, और पूछें तो क्या? उनके लिए तो मौन होकर सिर झुकाना ही काफ़ी था। कोई पढ़ा-लिखा होता तो बीसियों बातें पूछता, उलहना देता, आलोचना करता; किन्तु ग़रीब में इतनी कृतघ्नता कहाँ है! वह तो दूर से ही दर्शन करके सन्तुष्ट होता है। यह तो अनेक घटनाओं में से छोटी-सी एक साधारण घटना है; किन्तु ग़रीबों के हृदयों में गांधीजी का क्या स्थान है, कैसा सिक्का है, यह जानना हो तो ऐसे ही उदाहरण उपयुक्त हैं। बछड़े की मृत्यु के बाद किसीने कहा था—"आज से महात्मा नहीं, मिस्टर गांधी कहो। अब तो गांधी का कोई दाम भी नहीं पूछेगा।" किन्तु ग़रीब इस झमेले में क्यों पड़ें? अहिंसा किसे कहते हैं और हिंसा किसे कहना चाहिए, यह तात्त्विक विवाद तो उन्हीं

को शोभा दे सकता है, जिन्हें बहस में अधिक रस है और काम में कम। फुरसती आदमियों के लिए वेदान्त का यह तात्त्विक विवेचन जी बहलाने का एक अच्छा साधन साबित हो सकता है। किन्तु ऊँट को पापड़ से क्या काम? आये-साल अकाल और महामारी; न खाने को पूरा अन्न, न शरीर ढँकने को पूरा वस्त्र, ज़मींदार की ज़्यादती, साहूकार की ज़्यादती और ऊपर से उपदेशकों की हिमाक़त। उन्हें क्या पता कि ग़रीब को रोग रोटी का है, न कि धर्म का। सुदामा की तरह ग़रीब को ज्ञान नहीं चाहिए, रोटी चाहिए। गांधी ग़रीबों को उपदेश देने नहीं जाता, गांधी उनके हृदय में प्रवेश करके उनके दुःख से दुखी होता है—ग़रीब बनकर रहता है और ग़रीबों के लिए जीता है। यही कारण है कि ग़रीबों के हृदय पर गांधी का एकछत्र अधिकार है। भारत के किसी छोटे-से-छोटे गाँव में जाइये और पूछिये, गांधी कौन है? तुरन्त उत्तर मिलेगा कि ग़रीबों का भला चाहनेवाला। गांधी क्या पढ़े हैं, क्या लिखे हैं, क्या कहते हैं, यह उनके लिए व्यर्थ की चिन्ता है। गांधी-बाबा अनाथों के, ग़रीबों के हित-चिन्तक हैं, इसीमें उनके लिए गांधीजी की सारी जीवनी आ जाती है। चाहे यह जीवनी सूत्र-रूप से हो, किन्तु संसार का अच्छे-से-अच्छा ग्रन्थकार इससे अधिक संक्षेप में और क्या कह सकता है! थोड़े-से लोग चाहे गांधीजी को गो-हत्यारा कहकर संतोष कर लें, किन्तु 'गांधीजी की जय' आज भी आकाश को कँपा देती है।

आज़कल गांधीजी वर्धा आये हुए हैं। वर्धा में जमना-लालजी की प्रेरणा से श्री विनोबा ने एक सत्याग्रह-आश्रम खोल

रक्खा है और गांधीजी वहीं ठहरे हुए हैं। गांधीजी क्या आये, मानों घर में कोई बड़े-बूढ़े दादा आ गए हों। आश्रमवासी तो गांधीजी को 'बापू' ही के नाम से पुकारते हैं, किन्तु बापू होने पर भी बच्चों के साथ गांधीजी बच्चों ही की तरह रहते हैं। खाना-पीना, काम-काज भी आश्रम के नियमों के मुताबिक़। आश्रमवासी शुद्ध घृत के अभाव में आजकल अलसी का तेल व्यवहार करते हैं। गांधीजी ने भी बकरी के दूध की जगह अलसी का तेल खाना शुरू कर दिया है। जमनालालजी को इस फेरफार की ख़बर मिलते ही चिन्ता शुरू हो गई। गांधीजी इस तरह के प्रयोग कर-करके कहीं अपना स्वास्थ्य न खो बैठें, इस आशंका से जमनालालजी ने गांधीजी को समझाना शुरू किया। बहस हुई, झगड़ा हुआ, अन्त में जमनालालजी ने बल-प्रयोग किया—"बापू, आप यहाँ मेरी देख-रेख में हैं। जैसा मैं कहूँ, वैसा कीजिये। इन प्रयोगों के कारण आप यहाँ से बीमार हो कर जायँ, यह मैं नहीं बर्दाश्त करने का। "तो दे डालो नोटिस मुझे, यहाँ से चला जाऊँगा।" गांधीजी ने खिल-खिलाकर कहा। जमनालालजी अब क्या कहते! चुप रहे। गांधीजी का हठ क़ायम रहा।

अग्रवाल-पंचायत ने जमनालालजी को जाति-बहिष्कृत कर रक्खा है। उनका सबसे बड़ा गुनाह यह बताया गया कि उन्होंने अस्पृश्यों के हाथ का खाया। जमनालालजी के कारण वर्धा में भी अग्रवालों में दो दल हैं। एक दल तो कट्टर पुराने विचार के लोगों का है; दूसरा दल भी यद्यपि पुराने विचारों का ही अनुयायी है, तो भी जमनालालजी को छोड़ना नहीं

चाहता। जमनालालजी ने उन्हें समझाया कि मुझे निबाहना कठिन काम है, इसलिए आप सामाजिक मामले में मुझसे मोह तोड़ लें। किंतु जिनका प्रेम है, वे जमनालालजी को कैसे त्याग दें! एक दिन कुछ वृद्ध सज्जनों को अगुआ करके दूसरे दल की मंडली जमनालालजी के पास पहुँची। "जमनालालजी विधवा-विवाह में शरीक हों, अस्पृश्यों से छुआछूत न मानें, उनके लिए मन्दिर खोलें, इसमें तो हम शामिल हैं; किन्तु अस्पृश्यों के हाथ का खान-पान हमें नहीं रुचता। चाहे हमारे सन्तोष के लिए ही सही, क्या जमनालालजी हमें इतना विश्वास नहीं दिला सकते कि भविष्य में वह अछूतों के हाथ का पकाया नहीं खायेंगे? जब हम लोग इतना आगे बढ़ने को तैयार हैं, तो जमनालालजी हमारे सन्तोष के लिए थोड़ा-सा पीछे क्यों न हटें?" यह संक्षेप में उनकी दलील थी। जमनालालजी कहने लगे—"आश्रम में तो सभी जाति के लोग रहते हैं। क्या मैं आश्रम में खाने से इन्कार करूँ?" "आश्रम की कौन कहता है! यह तो पुण्य-भूमि है! तीर्थस्थान के लिए कोई रुकावट नहीं। अन्य स्थानों पर आप ऐसा न करें, यही हमारी माँग है।" इस तरह से बहस होती रही। अन्त में तय हुआ कि गांधीजी के सामने मामला पेश किया जाय। दूसरे दिन वृद्ध लोगों का एक शिष्टमण्डल गांधीजी के पास पहुँचा। गांधीजी ने चर्खा चलाते हुए समाज के अगुओं से बातें प्रारम्भ कीं। गांधीजी ने पूछा—"जमनालालजी अस्पृश्यों के हाथ का खाते हैं, इसमें आपको किसका डर है? समाज का या धर्म का?" एक वृद्ध ने कहा—"धर्म तो हम क्या समझें! समाज की रूढ़ि है

कि ऐसा नहीं करना चाहिए। हम जमनालालजी की सब बातें मानते हैं, तो फिर हमारी इतनी बात जमनालालजी क्यों नहीं मानते?" गांधीजी ने कहा—"क्यों न मानें; किन्तु यदि रूढ़ि का जुल्म हो तो उस रुढ़ि का नाश कर देना चाहिए। प्राचीन काल में ऐसी रूढ़ि का बन्धन था, यह तो मैं नहीं जानता। मैं तो यह जानता हूँ कि जो स्वच्छ है, शराबी नहीं है, व्यभिचारी नहीं है, उसके द्वारा स्वच्छता से पकाया हुआ खाने-योग्य पदार्थ हमारे लिए अवश्य भोज्य है। उनको यदि हम कहें कि तुम्हारे हाथ का हम नहीं खायँगे तो क्या हमारे साथ वे रहेंगे? वे अवश्य हमारा त्याग कर देंगे। मैं तो केवल उनकी धमकी से भी नहीं डरता; किन्तु यदि हमारे दोष के कारण वे हमारा त्याग कर दें तो मैं उसे कैसे बर्दाश्त कर सकता हूँ? जो अपवित्र रहते हैं, मुर्दे का मांस खाते हैं, शराबी हैं, उनके हाथ का खाने को तो मैं नहीं कहता। उनसे तो मैं कह सकता हूँ कि पहले तुम अपनी बुराइयाँ दूर करो तो मैं तुम्हारे हाथ का खाऊँ। किन्तु जो स्वच्छ हैं उनके हाथ का तो न खाने से धर्म का नाश हो जायगा। आपमें यदि साहस न हो तो आप चाहे ऐसा न करें। जमनालालजी को आशीर्वाद तो दें, क्योंकि वह तो धर्म ही के लिए ऐसा करते हैं। आप इनको क्यों पीछे हटाना चाहते हैं? चाहो तो जमनालालजी से प्रतिज्ञा करा लो कि जो शौचादि को न माने, उस ब्राह्मण या अब्राह्मण किसीके भी हाथ का वे न खायें। किन्तु इससे थोड़े ही आपका काम बनेगा! आप तो पंचों के त्रास से भयभीत हैं और इसलिए जमनालालजी से आग्रह करते हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि समाज को तो

मैं भी मान लेता हूं, हमें हर बात में समाज से नहीं लड़ना चाहिए। किंतु आपका समाज कैसा समाज है? यदि गंगोत्री मैली हो जाय तो क्या फिर गंगा का पानी स्वच्छ रह सकता है? आज के पंच पंच कहाँ रह गए? पंच तो गंगोत्री है, और जैसे गंगोत्री का पवित्र प्रवाह गंगा में बहता है, वैसे ही पंच समाज को पवित्र प्रेरणा और न्यायबुद्धि देते हैं। किन्तु वर्तमान के पंच तो राक्षसी प्रथा के पुजारी हैं। आज के पंच पाखंड से, स्वार्थ से, क्रोध से और द्वेष से भरे हुए हैं। मेरी तो यह भविष्यवाणी है। आप इसे मानिये कि आज के पंचों का अन्याय हम नहीं मेट सके तो इस समाज का नाश हो जायगा। पंच न्याय कहाँ करते हैं? धर्म की बड़ी-बड़ी बातें बनाने से न्याय नहीं हो सकता। वर्तमान के पाखण्डी पंचों से तो डरना भी अन्याय है। उनके जुल्म का सामना करके मरना ही अच्छा है। पंच-गंगोत्री मैली हो गई है। इसे शुद्ध करने के लिए हरएक को मर-मिटना चाहिए। यह धर्म के नाम पर पाप फैलाया जाता है। उसीका जमनालालजी सामना कर रहे हैं। उन्हें आप आशीर्वाद दें! आगे की पीढ़ी तो कहेगी कि जमनालालजी ने धर्म को बचा लिया। लाखों अछूतों को हिन्दू रख लिया। रावण के दस सिर क्या थे, यह तो उसकी दस तरह की दुष्ट बुद्धि थी। उसी दुष्ट बुद्धि का सामना विभीषण ने किया।

"आप यदि सामना कर नहीं सकते, इतना साहस नहीं है, तो जमनालालजी आपको नहीं कहते कि आप भी उनके साथ चलें। जमनालालजी तो कहते हैं कि आप उनके साथ न चल

सकें तो उन्हें छोड़ दें, किन्तु आप उनका मोह क्यों करते हैं? उन्हें भी अग्रवाल-समाज के सुधार का मोह छोड़ देना चाहिए। जो संन्यासी हो गया, उसे कौन बाँधता है! वह तो अब व्यापक समाज की सेवा ही कर सकते हैं। उसीमें अग्रवाल-समाज की भी सेवा आ जाती है। आप जमनालालजी को छोड़ दें, किन्तु उनके लिए प्रेम क़ायम रक्खें और पंचायत के जो लोग विरोधी हैं, उनके प्रति भी विरोध न करें। हम क्रोध को अक्रोध से और अशान्ति को शान्ति से ही जीत सकते हैं। पंचायत के लोग क्रोध के पात्र नहीं हैं, दया के पात्र हैं। वे तो अवश्य ही समझते हैं कि हम समाज का भला कर रहे हैं। उन्हें क्या पता कि वे धर्म के नाम पर जुल्म करना चाहते हैं! इसलिए आप तो उनसे भी प्रेम करो और जमनालालजी को आशीर्वाद दो कि वह धर्म की रक्षा और अन्याय का सामना करने में कृतकार्य हों।"

गांधीजी का वक्तव्य समाप्त होने पर सब लोग चुप हो गए। सन्नाटा-सा छा गया, किसीसे उत्तर देते नहीं बना। एक वृद्ध सज्जन ने चुपके से पगड़ी उतारकर गांधीजी के पैरों में रख दी और कहने लगे—"महाराज, आपने जो कहा, उसे सुनकर तो मैं गद्‌गद हो गया।" उस वृद्ध से अधिक कहते न बन पड़ा, किन्तु पंचों के त्रास से वह भी भयभीत था।

गांधीजी जब चर्खा चलाने बैठते हैं तो कातने की धुन में इतने मस्त रहते हैं, मानों त्रिलोक का राज्य मिल गया हो; और किसी भी गहन-से-गहन विषय पर उनसे बातें कीजिये, उनके कातने में कोई विघ्न नहीं पड़ता। असल में तो एक ओर

सूत का अपने आप उनके हाथ की पूनी में से निकलते जाना, दूसरी ओर उनकी अबाधित वचन-धारा का प्रवाह और साथ में चर्खे का संगीत, यह हर भावुक का मन मोहने को पर्याप्त है। मैं तो हर रोज उनके कातने के समय अपनी चक्की चलाने जा बैठता हूँ। एक दिन वही बछड़े की कथा छिड़ी। मैंने कहा, "महात्माजी, श्रीकृष्ण ने भी बछड़ा मारा था, किन्तु वह तो आलंकारिक जमाना था, इसलिए बछड़े का वत्सासुर हो गया। किन्तु इस बीसवीं शताब्दी में तो लोग सीधी-सादी भाषा में ही बोलते हैं, इसलिए आपके इस काम ने काफी हलचल पैदा कर दी। आपने बहुत से साहस किये, किन्तु इसमें तो हद हो गई। मुझे तो मालूम होता है, आपने इससे अधिक साहस का कोई और काम अपने जीवन में नहीं किया होगा।"

गांधीजी ने कहा "ऐसी तो क्या बात है; मैंने तो सबकुछ सहज भाव से ही किया है।"

"तो आपने ऐसा कौन-सा काम किया है, जिसे साहस की दृष्टि से आप अपने जीवन में ऊँचे-से-ऊँचा स्थान दे सकें ?" मैंने पूछा।

"इस दृष्टि से तो मैंने कभी नहीं विचारा।" गांधीजी ने कहा, "किन्तु मैं समझता हूँ कि बारडोली-सत्याग्रह स्थगित करके मैंने बहुत बड़े साहस का परिचय दिया। चौबीस घण्टे पहले सरकार को चुनौती देकर ललकारना और फिर अचानक सत्याग्रह को स्थगित करना, यह अपने-आप को बेहद हास्यास्पद बनाना था; किन्तु मैं तनिक भी नहीं झिझका। जो सत्य था, वही मेरा राजमार्ग था और इसीलिए मेरी अपनी हँसी होगी,

इस विचार ने मुझे कभी भयभीत नहीं किया। मेरे जीवन के बड़े साहसिक कामों में यह एक था, ऐसा मैं मान सकता हूँ।"

"सविनय आज्ञा-भंग अचानक बन्द करना पड़ा, इससे आपको क्लेश नहीं हुआ ?"

"किंचित् भी नहीं।" गांधीजी ने दृढ़ता से कहा।

जिस सीता के लिए लाखों बन्दर और राक्षसों के प्राण गये, उसे छोड़ देने में राम को कुछ हिचकिचाहट न हुई। और जिस सविनय आज्ञा-भंग के लिए हज़ारों लोगों को जेल-यातनाएँ मिलीं, उसे ढाह देने में गांधीजी को कोई संकोच नहीं हुआ। त्रेता में लोगों ने राम को बुरा-भला कहा होगा, कलि में गांधीजी को लोगों ने खरी-खोटी सुनायी; किन्तु कौन कह सकता है कि गांधीजी ने जो किया वह ठीक न था ? असल में तो बड़े लोगों को समझने के लिए कुछ प्रयास की ज़रूरत पड़ती ही है। गांधीजी लंगोटी मारकर रहते हैं, सस्ते-से-सस्ता खाना खाकर निर्वाह करते हैं, तो भी उन सबके नीचे छिपी हुई चमक 'कभी-कभी' लाखों में चकाचौंध मचा ही देती है। गांधीजी लँगोटी मारकर गरीबों की तरह रहते हैं, इससे उनकी बुद्धि ग़रीब नहीं हो गई है। वस्तुस्थिति तो यह है कि बाज़-बाज़ मौकों पर गांधीजी के वचन और कर्म को ठीक-ठीक समझने के लिए मनुष्य को विशेष प्रयास की ज़रूरत पड़ती है। हम रोज़मर्रा देखते हैं कि अख़बारवाले गांधीजी से वार्तालाप करके कुछ छाप देते हैं और पीछे गांधीजी को उसका खंडन करना पड़ता है। कारण यह है कि गांधीजी को लोग ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। गांधीजी 'अहिंसा-अहिंसा'

पुकारते न कभी थके, न अब थकते हैं। अहिंसा के तो मानो वह अवतार बन गए हैं। फिर भी बछड़े की प्रख्यात हिंसा करते न केवल उन्हें हिचकिचाहट नहीं हुई, उलटा उन्होंने उसे धर्म माना। साधारण लोग सुनते ही हक्के-बक्के रह गए। किसीने आँसू बहाये, किसीने गालियाँ दीं, किन्तु साबरमती के महात्मा पर उसका क्या असर हो सकता था! उन्हें तो लेना-देना है बस एक ही से। चर्खा चलाते हैं तो उसमें ईश्वरीय संगीत सुनते हैं। अलसी के तेल से मिली रोटी खाते हैं तो उसमें ईश्वरीय स्वाद का अनुभव करते हैं। दुःख में, सुख में, हँसने में, रोने में, जागने में, सोने में, फिरने में अविच्छिन्न रूप से जो मनुष्य ईश्वर का अनुभव करता है, उसे जगत् की क्या परवा!

'सन्तन ढिग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई,
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई।'

यह गांधीजी का हाल है। जगत् से न उनको शर्म है, न जगत् का भय है।

एक दिन मैंने पूछा, "महात्माजी, आपकी उत्तरोत्तर आत्मोन्नति हो रही है, ऐसा कुछ आपको अनुभव होता है?" शील-संकोच से गांधीजी ने कहा, "मेरा तो ऐसा ख़याल है।" मैंने कहा, "महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द की मण्डली क्या समझती है, मैं नहीं जानता; किन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि असहयोग-आन्दोलन के बाद आपकी आत्मा में बहुत चमक आ गई है।" महात्माजी मौन रहे। शायद सोचा होगा, मेरा ऐसा कहना भी तो अनधिकार था। किसीकी आत्मा चढ़

रही है या गिर रही है, उसे पहचानने की भी तो लियाक़त अधिकारी में ही हो सकती है। एक बार लार्ड रीडिंग से गांधी-जी की चर्चा चली थी, उसका मुझे स्मरण हो आया। गांधीजी उन दिनों जेल में थे। देश के नेताओं का ज़िक्र छिड़ने पर मैंने कहा, "मेरी राय में गांधीजी संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं।" वायसराय ने कहा, "हाँ, यह ठीक हो सकता था, यदि उनके संगी-साथी सब-के-सब ईमानदार होते।" मैं वायसराय का मतलब समझ गया। यह कोई नहीं कह सकता कि असह-योग के दिनों में गांधीजी की सारी-की-सारी मण्डली भली थी। किन्तु गांधीजी को इससे क्या! मैंने उन दिनों एक बार कहा था, "महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द के लोगों में कितने बुरे आदमी भी आ गए हैं।" गांधीजी ने कहा, "मुझे क्या डर है? मुझे कोई धोखा नहीं दे सकता। जो मुझे धोखा देने में अपनेको दक्ष समझते हैं, वे स्वयं अपने-आप को धोखा देते हैं। मैं तो शैतान के पास भी रहने को तैयार हूँ, किन्तु शैतान मेरे पास कैसे रहेगा? जो बुरे हैं, वे स्वयं मुझे त्याग देंगे।" हुआ भी ऐसा ही। आज महात्मांजी की मण्डली में इने-गिने लोग बचे हैं। शुरू से आजतक के उनके जीवन पर दृष्टिपात करें तो सारा चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है। राजा ने छोड़ा, रौलट-ऐक्ट के जन्म के समय; प्रजा ने छोड़ा, बारडोली के निश्चय के समय। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, आर्यसमाजी, सनातनी, जात-पाँत, मित्र-स्नेही, सबने—किसीने कभी, किसी ने कभी—महात्माजी को समय-समय पर छोड़ दिया। युधिष्ठिर स्वर्ग में पहुँचे तो केवल एक कुत्ता साथ में निभा। महात्माजी

के स्वर्गारोहण तक कौन उनके साथ टिक सकेगा, यह भविष्य के गर्भ में है। पर एक बात है, सबने एक-एक करके समय-समय पर गांधीजी को छोड़ दिया। पर फिर-फिरकर वही लोग गांधीजी से चिपटे ही रहते हैं। मैंने एक दिन कहा, "महात्मा-जी, आप इतनी तेज़ी से दौड़ लगा रहे हैं, मैं नहीं समझता, अन्त तक बहुत व्यक्ति आपके साथ रह सकते हैं।" गांधीजी ने कहा, "यह तो मैंने बीस साल पहले ही सोच लिया था और मुझे तो इसीमें सुख है।" मैंने कहा, "यदि प्राचीन समय होता और भारतवर्ष के बाहर आप पैदा हुए होते, तो इतनी तेज़ी की चाल लोग बर्दाश्त न करते। या तो ईसा की तरह आपको सूली पर चढ़ना होता, अथवा सुकरात की तरह ज़हर का प्याला पिलाया जाता। किन्तु यह तो ऋषियों का देश है और बीसवीं शताब्दी है, इसलिए लोगों ने आपकी महात्मापन की उपाधि छीनकर ही सन्तोष कर लिया है।"

गांधीजी ने हँसकर धीरे से कहा, "तो चढ़ा दें लोग मुझे भी सूली पर। मैं भी तैयार हूँ और प्रसन्नता के साथ तैयार हूँ।" पास बैठे लोगों ने लम्बी साँस ली। मेरे तो मन में आया कि इस मिश्रित धर्म से तो कहीं अन्धकार ही अच्छा है, जो अवतार को निकट ला देता है। आज न तो अधर्म का ह्रास ही होता है और न अवतार ही आता है। यह दशा तो असहनीय है, किन्तु कोई क्या करे!

... ...

गांधीजी के यहाँ त्याग का गुणगान रात-दिन रहता है। कम-से-कम कितने रुपयों में निर्वाह हो सकता है, इसीका प्रयोग

होता रहता है। गांधीजी भी अलसी के तेल का प्रयोग इसलिए करते हैं कि जिसमें जीवन-निर्वाह का खर्च कम-से-कम हो। उनके इस आचरण के कारण वातावरण ही ऐसा बन गया है कि उनकी मण्डली में जीवन-निर्वाह की आवश्यक-से-आवश्यक सामग्रियों का उपयोग करना भी गुनाह-सा हो गया है। सेठ जमनालालजी का चौका भी सेठाई से शून्य है। बेमसाले की स्वादहीन एक तरकारी, मोटे टिक्कड़, दूध-दही तो औषध के रूप में—यह रोज़मर्रा की रसद है। किसी मोटे मरीज़ के लिए तो आश्रम का भोजन या जमनालालजी का चौका रामबाण औषध है। किन्तु हरिभाऊ उपाध्याय-जैसे अधमरे ब्राह्मण के लिए भी वहाँ वज़न बढ़ाने की कोई गुंजाइश नहीं। किसी आश्रमवासी बालक या बालिका के चेहरे पर मैंने शारीरिक ओज के चिह्न नहीं पाये। संन्यासाश्रम का आदर्श भी यही था कि कम-से-कम खाओ, अधिक-से-अधिक उपजाओ; अर्थात् अल्प मात्रा से जीवन-निर्वाह कर अधिक-से-अधिक संसार की सेवा करो। यह स्वेच्छा का त्याग था। आश्रमवासियों की भी यह स्वयं-निर्मित कैद है। किन्तु भारत के जनसाधारण को आश्रमवासियों से अधिक कहाँ मिलता है? भारतवर्ष के प्रत्येक मनुष्य की आय का औसत गोखले ने दो रुपये माहवार निश्चित किया था। किसी-किसीने इससे ज़्यादा का अन्दाज़ा किया। किन्तु भारतवर्ष को सब्ज़ बाग़ दिखानेवाले अंग्रेज़ भी ४।।) माहवार से अधिक की आय नहीं साबित कर सके। भारतवासी की आय ४।।) और अंग्रेज़ की ५०) प्रतिमास!

आश्रमवासी बेचारे कम-से-कम ख़र्च करके भी १५)

माहवार से कम में गुज़र नहीं कर सकते और भारत के दरिद्र-नारायण ४।।) माहवार में किसी तरह कीड़े-मकोड़े का जीवन व्यतीत करते हैं। आश्रमवासियों ने तो अपने-आप अपने ऊपर क़ैद लगाई है, सुख को तिलांजलि दी है, देश के लिए फ़क़ीरी ली है, इसलिए हरिभाऊजी के अधमुए शरीर को देखकर तरस खाना बेकार है। किन्तु देश के जनसमुदाय ने कब संन्यास-दीक्षा ली थी, जो उनकी ग़रीबी को हम सन्तोष समझ बैठे हैं ? उनका सन्तोष क्या है, बुढ़िया का ब्रह्मचर्य है। उन्हें सन्तोष सिखाना उनकी ग़रीबी की निर्दय हँसी उड़ाना है। मैंने गांधीजी से कहा, "महात्माजी, त्याग तो आपको और आपके चेलेचाँटियों को ही शोभा दे सकता है; किन्तु देश के असंख्य दरिद्रों को त्याग की कौन-कौन-सी गुंजाइश है ? वे तो पहले से ही आधा पेट भोजन करते हैं और फिर वे लोग समझ बैठें कि ४।।) माहवार या इससे भी कम में निर्वाह करना ही हमारा कर्तव्य है, तो फिर स्वराज्य की भावना को प्रोत्साहन देना फ़िज़ूल है। स्वराज्य की भावना दो ही कारणों से देश में पैदा हो सकती है—या तो धार्मिक असन्तोष के कारण, या आर्थिक वेदना के कारण। यूरोपीय देशों में पेट की चिन्ता ने स्वराज्य की भावना को जाग्रत रक्खा। यहाँ धार्मिक असन्तोष ने समय-समय पर सुधर्मियों के राज्य की भावना को प्रोत्साहन दिया। किन्तु अंग्रेजों ने न हमारे मन्दिर गिराये, न मुसलमानों की मस्जिदें तोड़ीं। इसलिए स्वराज्य की भावना तो तभी पैदा हो सकती है, जब हम यह महसूस करें कि हमारी आर्थिक हीनावस्था बिना स्वराज्य के नहीं सुधर सकती। किन्तु यदि

इस दारिद्र्य को ही आदर्श मानें तब तो फिर स्वराज्य के लिए कोई क्यों लड़े ! इसलिए मेरी बुद्धि में तो वहाँ यह अपने-आप धारण की हुई ग़रीबी आश्रमवासियों एवं अन्य कार्यकर्ताओं के लिए भूषण है, जनता की बेबस ग़रीबी, ग़रीबों का और देश का दूषण है। उन्हें तो हम यह कहें कि तुम्हारे पास जीवन-निर्वाह की सामग्री स्वल्प है, उसको मर्यादा के भीतर बढ़ाने का उद्योग करना तुम्हारा धर्म है।"

महात्माजी ने कहा, "मैं ग़रीबों को जीवन की आवश्यक सामग्री घटाने को कहाँ कहता हूँ? आज ग़रीब जितने में निर्वाह करता है, वह तो हमारे लिए शर्माने की बात है। वर्तमान ग़रीबों का जीवन तो पशुओं का जीवन है। उनके सामने त्याग की बातें करना तो निर्दयता है। जिनके पास काफ़ी सामग्री है, या जो सेवा करना चाहते हैं, मैं तो उन्हें ही ग़रीब बनने का उपदेश करता हूँ।"

मैंने कहा, "आपके साहित्य के पढ़ने से तो कुछ भ्रम पैदा हो सकता है। आप अलसी के तेल पर निर्वाह करें और आपकी मण्डली आपका अनुकरण करे, तो फिर लोग शायद यह भी समझ सकते हैं कि देश का हर मनुष्य कम-से-कम खाकर जीये !"

गांधीजी ने कहा, "लेकिन मेरा यह साहित्य ग़रीबों के लिए थोड़े ही है। जब ग़रीब लोग पढ़े-लिखे होने लगेंगे और मेरा साहित्य पढ़ने लगेंगे, तो शायद मुझे कुछ थोड़ा-सा फेर-फार करना पड़े। किन्तु आज तो मैं त्याग का गुणगान धनी या मध्यम वर्ग के लोगों के लिए ही करता हूँ। ग़रीबों को

त्याग क्या सुझाऊँ, वे तो परवशात् त्यागी बन बैठे हैं। उन्हें तो इससे अधिक की आवश्यकता है।"

मैंने पूछा, "आपकी राय में हर मनुष्य को खाने, पहनने और सुख से रहने के लिए कितने व्यय में निर्वाह करना चाहिए?"

गांधीजी ने कहा, "जितने में सुखपूर्वक स्वस्थ रहते हुए निर्वाह कर सके।"

"यानी रोटी, दाल, भात, तरकारी, फल, घी, दूध, सूती-ऊनी कपड़े, जूते?"

गांधीजी ने कहा, "जूते की आवश्यकता मैं इस देश में नहीं समझता, शायद खड़ाऊँ की आवश्यकता हो। घी तो ज्यादा नहीं चाहिए।"

मैंने पूछा, "दन्तमंजन, साबुन, ब्रश इत्यादि?"

गांधीजी ने कहा, "अरे, इसकी कहीं आवश्यकता हो सकती है?"

मैंने पूछा, "घोड़ा?"

सब लोग हँसने लगे।

मैंने फिर पूछा, "खैर, आपकी राय में ग़रीब आदमी का बजट कितने रुपये का होना चाहिए?" सौ रुपये माहवार से कम में कैसे कोई सुखपूर्वक गुज़र कर सकता है, यह तो मेरे जैसे मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात थी। इसलिए मैंने सौ रुपये का तखमीना रक्खा। हरिभाऊजी ने कहा, "मैंने साधारण आदमी का बजट गढ़कर देखा था, पचास रुपये प्रतिमास काफी है।" महात्माजी को तो पचास रुपये भी

ज़्यादा जँचें। "पच्चीस रुपये माहवार तो काफ़ी हैं।"—यह उन्होंने अनुमान लगाया। मैंने कहा, "यह तो असम्भव है।"

गांधीजी ने कहा, "अच्छा, जो स्वास्थ्य के लिए चाहिए उतनी सामग्री का तख़मीना कर लो। यदि पच्चीस रुपये से ज़्यादा आता है तो भी मुझे क्या उज्र है! किन्तु मैं जानता हूँ कि पच्चीस रुपये माहवार हर मनुष्य को खाने को मिले तो यहाँ रामराज्य आ जाय।"

"और यदि किसी-किसीको पचास रुपये से ज़्यादा मिल जाय तो?" मैंने पूछा।

"ज़्यादा मिल जाय तो उसका उपभोग करे।" गांधीजी ने उत्तर दिया। "किन्तु वह तो फिज़ूलखर्ची है। ऐसे मनुष्यों को तो मैं त्याग का ही उपदेश करूँगा।"

मैंने पूछा, "महात्माजी, यदि प्रत्येक मनुष्य की आय दो सौ रुपये औसत या इससे भी अधिक प्रतिमास हो जाय, तो आपको क्या उज्र हो सकता है?"

महात्माजी ने आवेश के साथ कहा, "उज्र नहीं हो सकता है! उज्र तो हो ही सकता है। संसार में प्रकृति जितना पैदा करती है वह तो इतना ही है कि हर मनुष्य को आवश्यक वस्त्र और जीवन-निर्वाह की अन्य आवश्यक सामग्री सुखपूर्वक मिल जाय; किन्तु प्रकृति मनुष्य के अपव्यय के लिए हर्गिज़ पैदा नहीं करती। इसके मानी तो यह हैं कि यदि एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक उपभोग कर लेता है तो दूसरे मनुष्य को भूखा रहना पड़ता है और इसलिए जो अधिक उपभोग करता है उसे मैं लुटेरे की उपमा देता हूँ। इस हिसाब से पचास रुपये

से अधिक जो अपने लिए खर्च करते हैं, वे लुटेरे हैं। इंगलैण्ड एक छोटा-सा देश है। वहाँ के साढ़े तीन करोड़ आदमियों के भोग-विलास के लिए आज सारा एशिया उजाड़ा जा रहा है। किन्तु भारत के बत्तीस करोड़ मनुष्य यदि दो सौ माहवार या अधिक खाजाने का प्रयत्न करें तो संसार तबाह हो जाय। भगवान् वह दिन न लाये कि भारत के लोग अंग्रेजों की तरह उपभोग करना सीखें। किन्तु यदि ऐसा हुआ तो ईश्वर ही रक्षा करेगा। साढ़े तीन करोड़ की भोग-पिपासा मिटाने में तो यह देश मरा जा रहा है, बत्तीस करोड़ आदमियों के भोग की भूख मिटाने में तो संसार को मरना होगा।"

मैंने कहा, "महात्माजी, यदि पाँच सौ या सौ रुपये से अधिक खानेवालों को लुटेरे समझें तब तो मारवाड़ी, गुजराती, पारसी, चेट्टी इत्यादि सब लुटेरे हैं।"

महात्माजी ने गम्भीरता से कहा, "इसमें क्या शक है! वैश्यों के हितार्थ प्रायश्चित्त करने के लिए ही तो मैंने वैश्यपन छोड़ा है।"

: ५ :

उत्कल में पाँच दिन

जब गांधीजी ने उत्कल में पैदल पर्यटन शुरू किया तो सुना कि वे सवेरे-साँझ छाँह में चलते हैं, आम्र-कुंजों में टिकते हैं, तारों-जड़े आसमान के नीचे सोते हैं। खाने को खेतों से ताजा तरकारी मिलती है, आम तो ऊपर ही लटकते रहते हैं, तोड़ लिये और खा लिये। दूध सामने दुहा और पी लिया। गांधी-जी के साथ कुछ दिन रहने का आनन्द और उसीके साथ ऊपर-नीचे, दायें-बायें, प्रकृति के सुहावने दृश्यों का यह मनमोहक विवरण किसके लिए लुभावना न होगा ! आखिर मैं भी पहुँच गया। पहुँचते ही देखता हूँ कि गांधीजी पाँच फुट लम्बी-चौड़ी एक तंग कोठरी में बैठे लिख रहे हैं। एक लड़का पंखा झल रहा है। बाहर छाया में लोग दरियों पर इधर-उधर पड़े हैं, कोई खा रहा है, कोई सो रहा है।

गांधीजी ने कहा, "अच्छे समय पर पहुँचे। कल रात तो वर्षा के मारे परेशानी रही। रात-भर कोई सोया नहीं। एक तंग कोठरी में पच्चीस जनों ने बैठकर रात बिताई।" सुनते ही मेरा माथा ठनका। गांधीजी ने मेरी ओर इशारा करके एक भाई से कहा, "अच्छा, इनके खाने का क्या प्रबन्ध है ?"

मैंने कहा, "जी, दूध लिया करता हूँ।"

किसीने आहिस्ते से कहा, "दूध तो नहीं है।"

अपनी परेशानी छिपाने के लिए मैंने कहा, "कोई चिन्ता नहीं, आमों से काम चल जायगा।"

श्री मलकानीजी मेरे अज्ञान पर मुस्कराते हुए कहने लगे, "यहाँ आम कहाँ ?"

मैंने साहस करते हुए कहा, "देख लेंगे !"

"खा लेंगे, ऐसा तो नहीं।" गांधीजी ने कहा, "अच्छा, नहा तो लो !"

कुएँ पर गया। अन्दर झाँका तो पानी में कीचड़ भरा था। ऐसा पानी पीने की तो कौन कहे, पाँव धोने में भी सूग आती थी। किसी तरह साफ़-सूफ़ करके पोखर की पाज पर दरी डालकर सो रहा। सोचा, खाने-पीने को नहीं मिलता तो न सही, सो तो लें। दो घण्टे बाद एक स्वयंसेवक दो गाँवों में 'हाँड' कर पाँच बकरियाँ दुहाकर आध सेर दूध लाया। उसे हसरतभरी निगाह से देखकर मैं पी गया। पीने के बाद ही ध्यान आया कि न मालूम ये पाँच बकरियाँ कितने बच्चों का मन भरतीं। पेट तो आध सेर दूध से कितनोंका क्या भरता ! फिर लम्बी साँस लेकर लेट रहा। स्व० बंकिमबाबू ने भारत-वर्ष की वन्दना में इसे 'सुजलां सुफलां शस्यश्यामलां' कहा है। उत्कल में भी जल की कमी नहीं। सुफला भी है। भूमि उप-जाऊ भी है, पर न 'सुखदा' है, न 'वरदा।' यहाँ बाढ़ खूब आती है। शान्तनु जैसे पुत्र पैदा करता था और गंगा उन्हें बहा ले जाती थी, वैसे ही उड़िया बोता है और बाढ़ सबकुछ बहाकर ले जाती है। जहाँ हम लोग बैठे थे, वहाँ बाढ़ आने

पर पुरसों पानी चढ़ जायगा। खेती नष्ट हो जायगी। पशु मर जायँगे। मकान गिर जायँगे। घर से निकलना मुश्किल हो जायगा। बीमारी फैल जायगी। लोग बेमौत मरेंगे। बाढ़ के चले जाने पर लोग थके-माँदे फिर खेती करेंगे। फिर झोंपड़ियों की मरम्मत करेंगे और फिर बाढ़ से लड़ने की तैयारी में लगेंगे।

शायद बाढ़ की मार से उड़िया इतना शिथिल हो गया है कि अब उसमें उत्साह नहीं। शायद दुःख को भूलने के लिए ही उसने अफ़ीम की लाग भी लगा ली है। उसकी आँखों में न तेज है, न हृदय में उत्साह। बाढ़-निवारण के लिए सरकार ने एक कमेटी बैठाई। उसने कुछ अच्छी-अच्छी सिफारिशें भी कीं, पचासों लाख का खर्च बताते हैं। यदि इन सिफ़ारिशों पर चला जाय तो उड़िये के जीवन में एक नयी स्फूर्ति आ जाय, एक नई आशा पैदा हो जाय। पर फुर्सत किसे है ? बाढ़-निवारण कमेटी की जाँच-रिपोर्ट आज सरकारी अलमारियों की शोभा बढ़ा रही है। सुना, सिफ़ारिशों को अमल में लाने से कुछ ज़मींदारों की भी क्षति है, इसलिए भी आगे बढ़ने में रुकावट है। मध्यप्रान्त से पानी चलता है, जो उत्कल में आकर बाढ़ उत्पन्न करता है। रेल न थी, तब पानी सीधा समुद्र में जा गिरता था। अब रेल और नहरों के बनने के बाद उसकी पाज के कारण पानी को रुकावट मिल गई है, ऐसा इस विषय के विशेषज्ञ लोग कहते हैं। दुःखी, दरिद्र, दीन उत्कल की यह करुण कहानी किसका दिल नहीं दहला देगी ! यमलोक में पहुँचने के लिए वैतरणी नदी पार करनी पड़ती है, उत्कल में

भी वैतरणी नदी है, मानों यह नाम उत्कल और यमलोक का सादृश्य दिखाने के लिए ही किसीने रक्खा हो। फ़र्क इतना ही है कि यमलोक में भूख नहीं लगती, उत्कल में लगती है।

ऐसे प्रदेश में गांधीजी क्या आये, मानों भगवान् ही आ गए। उत्कल में गोपबाबू का, मेहताबबाबू का, जीवरामभाई का अलग-अलग आश्रम है। गांधी-सेवाश्रम नाम का एक और आश्रम है। ये सभी आश्रम उड़ीसा की सेवा में रत हैं। जैसे हाथी की खोज में सभी खोज समा जाती है, वैसे ही बाढ़ों में जितनी संस्थाएँ सेवा के लिए उत्कल में पहुँचती हैं उनके बारे में उड़िया यही समझता है कि ये गांधीजी के ही आदमी हैं। अब तो गांधीजी स्वयं आ गए, इसलिए उड़िये के हर्ष का क्या ठिकाना! उड़िया समझता है, अब दुःख दूर होगा। इसलिए गांधीजी के सामने कीर्तन करता है, नाचता है, स्त्रियाँ उलूकध्वनि करती हैं। दो-दो हज़ार आदमी साथ में चलते हैं, प्रार्थना में हज़ारों मनुष्य आते हैं और बड़े जतन से ताँबे के टुकड़े, पैसे-अधेले-पाई लाते हैं, जो गांधीजी के चरणों में रख जाते हैं। '**भोजने यत्र सन्देहो धनाशा तत्र कीदृशी।**' पर उड़िया भूखा है तो भी गांधीजी को देता है। बीस-बीस कोस से चलकर आनेवाले नरकंकाल का धोती की सात गाँठों में से सावधानीपूर्वक एक पैसा निकालकर गांधीजी के चरणों में रख देने का दृश्य सचमुच रुलानेवाला होता है।

वर्षा आरम्भ होते ही पैदल यात्रा में रुकावटें आने लगीं। गाँवों में झोंपड़ियों की तो वैसे ही कमी रहती है और गांधीजी का दल ठहरा सौ-डेढ़ सौ आदमियों का। जबतक वर्षा न थी,

तबतक तो आकाश के नीचे सो लेते थे। अब झोंपड़ियों की ज़रूरत पड़ने लगी और रात को कष्ट होने लगा। कीड़े-मकोड़े, कानखजूरे बुरी तरह लोगों के बिस्तरों पर चक्कर काटने लगे। एक दिन डेरे के पास ही बड़े-बड़े चार साँप भी देखने में आये। रात को ओस के मारे सबके कपड़े भीग जाते थे। लोगों के बीमार होने की आशंका होने लगी, किन्तु गांधीजी के वातावरण में किसीको फ़िक्र न थी। मुझे लगा, मैं गांधीजी से कहूँ कि यदि वर्षा में यह दौरा जारी रहा तो, मण्डली में बीमारी फैल जाने की आशंका है।

भद्रक से जब हम लोग बारह मील की दूरी पर एक गाँव में पड़ाव डाले पड़े थे, मैंने इसकी चर्चा छेड़ी। गांधीजी को बात जँची। कहने लगे, "अच्छा, तो कल एक ही मंज़िल में हम भद्रक पहुँच जायँगे।"

मेरे लिए तो एक मंज़िल में बारह मील तय करना कठिन काम था। इसीलिए मैंने मोटर से जाना निश्चित किया। गांधीजी अपने दल के साथ मुझसे अढ़ाई घण्टा पूर्व चले और यद्यपि मैं मोटर से चला तो भी गांधीजी मुझसे आध घण्टे पहले ही भद्रक-आश्रम में पहुँच गए। रास्ते में लोगों से पूछने पर पता चला कि गांधीजी बड़ी तेज़ी से चलते जा रहे थे और उनको पकड़ने के लिए उनके साथवालों को उनके पीछे-पीछे दौड़ना पड़ रहा था। पैंसठ वर्ष की अवस्था में गांधीजी की यह शारीरिक शक्ति अवश्य चित्त प्रसन्न करती है। इसका रहस्य उनका संयमी जीवन है। दिन-भर में क़रीब एक सेर दूध और दो छटाँक शहद, उबली हुई तरकारी और कुछ आम—यह

उनका सारा भोजन है। रात को आमतौर से वह दो-तीन बजे नींद से उठ जाते हैं और जब संसार सोता है तब वह जागते हुए काम करते रहते हैं। इतना शारीरिक परिश्रम इस उम्र में अवश्य ही अद्भुत चीज़ है। जब इतनी फुरती के साथ गांधीजी को बारह मील की मंज़िल तय करते देखा, तो मैंने मन-ही-मन मिन्नत की कि भगवान् हमारे भले के लिए उन्हें लम्बी उम्र दे। जो लोग गांधीजी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहते हों, वे जान लें कि इन वर्षों में गांधीजी को मैंने इतना स्वस्थ नहीं देखा। देश के लिए यह सौभाग्य की बात है।

उत्कल के सेवकों के विषय में कुछ लिखना आवश्यक है। इनमें गोपबन्धु चौधरी और श्री जीवारामभाई, दो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दोनों मानों सेवा के साक्षात् अवतार हैं। गोपबन्धु तो असल वैष्णव हैं। "पर दुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे।" वह अपने ज़माने में डिपुटी-कलेक्टरी कर चुके, किन्तु सेवा के लिए सबकुछ छोड़ दिया। अभिमान तो मानों इनको छू नहीं गया। जीवारामभाई का यह हाल है कि लाखों रुपये छोड़कर सेवक बने। हम लोग जब सो जाते थे, तब यह रात को अकेले डेढ़ सौ आदमियों का पाखाना साफ़ करते थे।

इस यात्रा में हास्य-रस की भी कमी नहीं थी। मि० ब्यूटो (Buto) एक जर्मन युवक हैं, जो यात्रा में गांधीजी के साथ घूमते थे। गाँव में खाने की योंही कमी थी। श्री ब्यूटो हट्टे-कट्टे जवान और बचपन से मांस पर पले हुए।

इसीलिए अधभूखे रहते थे, पर अत्यन्त प्रसन्न। एक तहमद पहनकर फिरते थे। जवान तो हैं ही, मूँछें अभी आईं नहीं। गाँववाले पड़ाव के चारों तरफ़ सैकड़ों की संख्या में सुबह से शाम तक झाँकते रहते थे कि उन्हें गांधीजी का दर्शन हो जाय। इस बीच तरह-तरह की चर्चा करते थे। एक ने ब्यूटो की तरफ़ अंगुली उठाकर कहा कि मीराबहन यही हैं। सबको हँसी आ गई। कोई कहता, जवाहरलाल भी साथ आया है। गांधीजी कौन से हैं, यह भी दर्शकों के लिए पहेली थी। एक ने मीरा बहन को देखकर कहा—यही गांधीजी हैं। दूसरे ने किसी अन्य की ओर इशारा करके कहा—नहीं, गांधीजी यह हैं। तीसरे ने कहा—नहीं, गांधीजी तो महात्मा हैं। वह सबको दिखाई नहीं देते।

गांधीजी के दल के लिए ऐसी-ऐसी बातें रसायन का-सा काम देती रहती थीं। किसीने बताया कि मीराबहन एक मर्तबा ज़नाने डिब्बे में यात्रा कर रही थीं। इतने में टिकट-कलक्टर टिकट देखने आया। मीराबहन का सिर तो मुड़ा हुआ है ही। टिकट-कलक्टर आया, उस समय ओढ़नी सिर पर से उतर गई थी। टिकट-कलक्टर ने समझा कि यह पुरुष है और कहने लगा—"आपको पता है यह ज़नाना डिब्बा है?" मीराबहन ने तुरन्त ओढ़नी सिर पर खींची। टिकट-कलक्टर बेचारा झेंपकर चलता बना। हम लोगों ने यह कहानी सुनी तो हँसते-हँसते आँखों में आँसू आ गए।

उत्कल की यह यात्रा हँसी और रुलाई का एक अद्‌भुत सम्मिश्रण थी।

२२ जून, १९३८

: ६ :

गांधीजी : मानव के रूप में

गांधीजी का और मेरा प्रथम सम्पर्क १९१५ के जाड़ों में हुआ। वे दक्षिण अफ्रीका से नये-नये ही आये थे और हम लोगों ने उनका एक बृहत् स्वागत करने का आयोजन किया था। मैं उस समय केवल बाईस साल का था। गांधीजी की उस समय की शक्ल यह थी : सिर पर काठियावाड़ी साफा, एक लम्बा अँगरखा, गुजराती ढंग की धोती और पाँव बिलकुल नंगे। वह तस्वीर आज भी मेरी आँखों के सामने ज्यों-की-त्यों नाचती है। हमने कई जगह उनका स्वागत किया। उनके बोलने का ढंग, भाषा और भाव बिल्कुल ही अनोखे मालूम दिये। न बोलने में जोश, न कोई अतिशयोक्ति, न कोई नमक-मिर्च; सीधी-सादी भाषा !

१९१५ में जो सम्पर्क बना, वह अन्त तक चलता ही रहा और इस तरह बत्तीस साल का गांधीजी के साथ का यह अमूल्य सम्पर्क मुझपर एक पवित्र छाप छोड़ गया है, जो मुझे सदा स्मरण रहेगा। उनका सत्य, उनका सीधापन, उनकी अहिंसा, उनका शिष्टाचार, उनकी आत्मीयता, उनकी व्यवहार-कुशलता, इन सब चीजों का मुझपर दिन-प्रतिदिन असर पड़ता गया और धीरे-धीरे मैं उनका भक्त बन गया। जब समालोचक था तब भी मेरी उनमें श्रद्धा थी; जब भक्त बना तो श्रद्धा और भी

बढ़ गईं। ईश्वर की दया है कि बत्तीस साल का मेरा और एक महान् आत्मा का सम्पर्क अन्त तक निभ गया। मेरा यह सद्-भाग्य है।

गांधीजी को मैंने सन्त के रूप में देखा, राजनैतिक नेता के रूप में देखा और मनुष्य के रूप में भी देखा। मेरा यह भी खयाल है कि अधिक लोग उन्हें सन्त या नेता के रूप में ही पहचानते हैं। लेकिन जिस रूप ने मुझे मोहित किया वह तो उनका एक मनुष्य का रूप था—न नेता का, न सन्त का। उनकी मृत्यु पर अनेक लोगों ने उनकी दुःख-गाथाएँ गाई हैं और उनके अद्भुत गुणों का वर्णन किया है। मैं उनके क्या गुण गाऊँ? पर वे किस तरह के मनुष्य थे, यह मैं बता सकता हूँ।

मनुष्य क्या थे, वे कमाल के आदमी थे। राजनैतिक नेता की हैसियत से वे अत्यन्त व्यवहार-कुशल तो थे ही। किसी से मैत्री बना लेना, यह उनके लिए चन्द मिनटों का काम था। द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेंस में जब वे इंगलैंड गये थे तब उनके कट्टर दुश्मन सैम्युअल होर से मैत्री हुई तो इतनी कि अन्त तक दोनों मित्र रहे। लिनलिथगो से उनकी न निभी, पर इसमें दोष सारा लिनलिथगो का ही था; गांधीजी ने मैत्री रखने में कोई कसर न रक्खी। जिनसे गांधीजी मैत्री रखते, छोटी चीज़ों में वे उनके ग़ुलाम बन जाते थे। पर जहाँ सिद्धान्त की बात आती थी, वहाँ डटकर लड़ाई होती थी। लेकिन उसमें भी वे कटुता नहीं लाते थे। लन्दन में जितने रोज़ रहे, बिना सैम्युअल होर की आज्ञा के कोई वक्तव्य या व्याख्यान देना उन्होंने स्वीकार नहीं

किया। लिनलिथगो से भी कई बातों में ऐसा ही संबंध था।

निर्णय करने में वे न केवल दक्ष थे, वरन् साहसी भी थे। चौरीचौरा के कांड को लेकर सत्याग्रह का स्थगित करना और हिमालय-जितनी अपनी बड़ी भूल मान लेना, इसमें काफी साहस की जरूरत थी। सत्याग्रह स्थगित करने पर वे लोगों के रोष के शिकार बने, गालियाँ खाईं, मित्रों को काफ़ी निराश किया, पर अपना दृढ़ निश्चय उन्होंने नहीं छोड़ा। १९३७ में कांग्रेस ने जब गवर्नमेंट बनाना स्वीकार किया तब गांधीजी के निर्णय से ही प्रभावित होकर कांग्रेस ने ऐसा किया। गांधीजी ने जहाँ कदम बढ़ाया, सब पीछे चल पड़े। कांग्रेस-नायक में उस समय झिझक थी, वे शंकाशील थे। १९४२ में, जब क्रिप्स आये, तब हाल इसके विपरीत था। कांग्रेस के कुछ नेता चाहते थे कि क्रिप्स की सलाह मान ली जाय और क्रिप्स-प्रस्ताव स्वीकार किया जाय, पर गांधीजी टस-से-मस न हुए, बल्कि उन्होंने 'हिन्दुस्तान छोड़ो' की धुन छेड़ी और लड़ पड़े। इस समय भी उन्होंने निर्णय करने में काफी साहस का परिचय दिया।

मुझे याद आता है कि राजनीति में उस समय क़रीब-क़रीब सन्नाटा था। लोगों में एक तरह की थकान थी। नेताओं में प्रायः एकमत था कि जनता लड़ने के लिए उत्सुक नहीं।

बिहार से एक नेता आये। गांधीजी ने उनसे पूछा, "जनता में क्या हाल है? क्या जनता लड़ने को तैयार है?" बिहारी नेता ने कहा, "जनता में कोई तैयारी नहीं है, कोई उत्साह

नहीं है।" पीछे रुककर उन्होंने कहा कि मुझे एक कथा स्मरण आती है। एक मर्तबा नारद विष्णु के पास गये। विष्णु ने नारद से पूछा, "नारद, ज्योतिष के अनुसार वर्षा का कोई ढंग दीखता है ?" नारद ने पंचांग देखकर कहा कि वर्षा होने की कोई संभावना नहीं है। नारद ने इतना कहा तो सही, पर विष्णु के घर से बाहर निकले तो वर्षा से सुरक्षित होने के लिए अपनी कमली ओढ़ ली। विष्णु ने पूछा, "नारद, कम्बल क्यों ओढ़ते हो ?" नारद ने कहा, "मैंने ज्योतिष की बात बताई है, पर आपकी इच्छा क्या है, यह तो मैं नहीं जानता। अन्त में ज़ो आप चाहेंगे, वही होनेवाला है।" इतना कहकर उन बिहारी नेता ने कहा, "बापू, जनता में तो कोई जान नहीं है, पर आप चाहेंगे तो जान भी आ ही जायगी।" यह बिहारी नेता थे सत्यनारायणबाबू। जो उन्होंने सोचा था, वही हुआ। जनता में लड़ने की कोई उत्सुकता न थी, पर बिगुल बजते ही लड़ाई ठनी तो ऐसी कि अत्यन्त भयंकर।

पर यह तो मैंने उनकी नेतागिरी और राजकौशल की बात बताई। इतने महान् होते हुए भी किस तरह छोटों की भी उन्हें चिन्ता थी, यह आत्मीयता उनकी देखने लायक थी। यही चीज़ उनके पास एक ऐसे रूप में थी कि जिसके कारण लोग उनके बेदाम गुलाम बन जाते थे। उनके पास रहनेवाले को यह डर रहता था कि बापू किसी भी कारण अप्रसन्न न हों; और यह भय इसलिए नहीं था कि वे महान् व्यक्ति थे, वरन् इसलिए कि मनुष्य में जो सहृदयता और आत्मीयता होनी चाहिए, वह उनमें कूट-कूटकर भरी थी।

बहुत वर्षों की बात है। करीब बाईस साल हो गए। जाड़े का मौसम था। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। गांधीजी दिल्ली आये थे। उनकी गाड़ी सुबह चार बजे स्टेशन पर पहुँची। मैं उन्हें लेने गया। पता चला कि एक घंटे बाद ही जानेवाली गाड़ी से वे अहमदाबाद जा रहे हैं। उनके गाड़ी से उतरते ही मैंने पूछा, "एक दिन ठहर कर नहीं जा सकते ?" उन्होंने कहा, "क्यों ? मुझे जाना आवश्यक है।" मैं निराश हो गया। उन्होंने फिर पूछा, "क्यों ?" मैंने कहा, "घर में कोई बीमार है। मृत्यु-शय्या पर है। आपके दर्शन करना चाहती है।" गांधीजी ने कहा, "मैं अभी चलूंगा।" मैंने कहा, "मैं इस जाड़े में ले-जाकर आपको कष्ट नहीं दे सकता।" उन दिनों मोटरें भी खुली होती थीं। जाड़ा और ऊपर से जोर की हवा, पर उनके आग्रह के बाद मैं लाचार हो गया। मैं उन्हें ले गया, दिल्ली से कोई पन्द्रह मील की दूरी पर। वहाँ उन्होंने रोगी से बात कर उसे सान्त्वना दे दिल्ली-कॅंटूनमेंट पर अपनी गाड़ी पकड़ ली। मुझे आश्चर्य हुआ कि इतना बड़ा व्यक्ति मेरी ज़रा-सी प्रार्थना पर सुबह के कड़ाके के जाड़े में इतना परिश्रम कर सकता है और कष्ट उठा सकता है ! पर यह उनकी आत्मीयता थी, जो लोगों को पानी-पानी कर देती थी। मृत्यु-शय्या पर सोनेवाली यह मेरी धर्मपत्नी थी।

परचुरे शास्त्री एक साधारण ब्राह्मण थे। उन्हें कुष्ठ था। उनको गांधीजी ने अपने आश्रम में रक्खा सो तो रक्खा, पर रोजमर्रा उनकी तेल की मालिश भी स्वयं अपने हाथों करते थे। लोगों को डर था कि कहीं कुष्ठ गांधीजी को न लग जाय।

पर गांधीजी को इसका कोई भय न था। उनको ऐसी चीजों से अत्यन्त सुख मिलता था।

'४२ के शुरू में मैं वर्धा गया। कुछ दिन बाद उन्होंने मुझसे कहा, "तुम्हारा स्वास्थ्य गिरा मालूम होता है। इसलिए मेरे पास सेवाग्राम आ जाओ और यहाँ कुछ दिन रहो। मैं तुम्हारा उपचार करना चाहता हूँ।" मैंने कहा, "वर्धा ठीक है। सेवाग्राम में क्यों आपको कष्ट दूँ!" मुझे संकोच तो यह था कि सेवाग्राम में पाखाना साफ करने के लिए कोई मेहतर नहीं होता। वहाँ पर टट्टी की सफ़ाई आश्रम के लोग करते हैं। जहाँ मुझे ठहराना निश्चित किया गया था, वहाँ की टट्टी महादेवभाई साफ़ किया करते थे। मैंने उन्हें अपना संकोच बताया कि क्यों मैं सेवाग्राम नहीं आना चाहता था। मैं स्वयं अपनी टट्टी साफ़ नहीं कर सकता और यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि महादेवभाई-जैसा विद्वान् और तपस्वी ब्राह्मण उस काम को करे। गांधीजी को मेरा संकोच निरा वहम लगा। पाखाना उठाना क्या कोई नीच काम है? महादेवभाई ने भी मज़ाक किया, परन्तु मेरे आग्रह पर मेहतर रखना स्वीकार कर लिया गया। आगाखाँ-महल में जब उनका उपवास चलता था तो मैं गया। बड़े बेचैन थे। बोलने की शक्ति क़रीब-क़रीब नहीं के बराबर थी। मैंने सोचा कि कुछ राजनैतिक बातें करूँगा, पर आश्चर्य हुआ। पहुँचते ही हम सबकी कुशल-मंगल, छोटे-मोटे बच्चों के बारे में सवाल और घर-गृहस्थी की बातें। इसीमें काफी समय लगा दिया। मैं उनको रोकता जाता था कि आपमें

शक्ति नहीं है, मत बोलिये; पर उनको इसकी कोई परवा नहीं थी।

इस तरह की उनकी आत्मीयता थी, जिसने हजारों को उनका दास बनाया। नेता बहुत देखे, सन्त भी बहुत देखे, मनुष्य भी देखे, पर एक ही मनुष्य में सन्त, नेता और मनुष्य की ऊँचे दर्जे की आत्मीयता मैंने और कहीं नहीं देखी। मैं अगर गांधीजी का क़ायल हुआ तो उनकी आत्मीयता का। यह सबक़ है, जो हर मनुष्य के सीखने के लायक़ है। यह एक मिठास है, जो कम लोगों में पाई जाती है।

गांधीजी करीब पौने पाँच महीने इस मर्तबा हमारे घर में रहे। जैसा कि उनका नियम था, उनके साथ एक बड़ी बरात आती थी। नये-नये लोग आते थे और पुराने जाते थे। भीड़ बनी रहती थी। घर तो उनके ही सुपुर्द था। कितने मेहमान उनके ऐसे भी आते थे, जो मुझे पसन्द नहीं थे, जो उनके पासवालों को भी पसन्द नहीं थे। बम गिरने के बाद बहुतों ने उन्हें बेरोक-टोक भीड़ में घुस जाने से मना किया। सरदार वल्लभभाई पटेल ने उनके लिए क़रीब तीस मिलिटरी पुलिस और पंद्रह-बीस खुफिया बिड़ला-भवन में तैनात कर रक्खे थे, जो भीड़ में इधर-उधर फिरते रहते थे; पर मैं जानता था, इस तरह से उनकी रक्षा हो ही नहीं सकती। जो लोग आते थे उनकी झड़ती लेने का विचार पुलिस ने किया, मगर गांधीजी ने रोक दिया। हर सवाल का एक ही जवाब उनके पास था—"मेरा रक्षक तो राम है।"

उपवास के बाद उनका हाज़मा बिगड़ा। मैंने कहा,

"कुछ दवा लीजिये।" फिर वही उत्तर—"मेरा वैद्य राम है।" "मेरी दवा राम है।" कुछ अदरक, नीबू, घृतकुमारी का रस, नमक और हींग साथ मिलाकर उनको देना निश्चय किया। आग्रह के बाद साधारण खान-पान की चीज़ समझकर उन्होंने इसे लेना स्वीकार किया। पर वह भी कितने दिन! अन्त में तो राम ही उन्हें अपने मन्दिर में ले गए।

उनके अन्तिम उपवास ने उनके निकटस्थ लोगों में काफ़ी चिन्ता पैदा की। उपवास के समय मैंने काफ़ी बहस की। मैंने कहा, "मेरा आपका बत्तीस साल का सम्पर्क है। आपके अनेक उपवासों में मैं आपके पास रहा हूँ। मुझे लगता है कि आपका यह उपवास सही नहीं है।" पर गांधीजी अटल थे। यह कहना भी गलत है कि गांधीजी आसपास के लोगों से प्रभावित नहीं होते थे। बुद्धि का द्वार उनका सदा खुला रहता था। बहस करनेवाले को प्रोत्साहन देते थे, और उसमें जो सार होता उसे ले लेते थे, चाहे वह कितने ही छोटे व्यक्ति से क्यों न मिलता हो। बार-बार बहस करते-करते मुझे लगा कि उनके उपवास के टूटने के लिए काफ़ी सामग्री पैदा हो गई है। मुझे बंबई जाना था। ज़रूरी काम था। मैंने उनसे कहा, "मैं बंबई जाना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि अब आपका उपवास टूटेगा। न टूटनेवाला हो तो न जाऊँ।" मैंने यह प्रश्न जान-बूझकर टटोलने के लिए किया। उन्होंने मज़ाक शुरू किया। कहा, "जब तुम्हें लगता है कि उपवास का अन्त होगा तो फिर जाने में क्या रुकावट है? अवश्य जाओ, मुझसे क्या पूछना है?" मैंने कहा, "मुझे तो उपवास का अन्त लगता

है, पर आपको लगता है या नहीं, यह कहिये।" उन्होंने मज़ाक जारी रक्खा और साफ उत्तर न देकर फंदे में फँसने से इन्कार किया। मैंने कहा, "नचिकेता यम के घर पर भूखा रहा तो यम को क्लेश हुआ; क्योंकि ब्राह्मण घर में भूखा रहे तो पाप लगता है। आप यहाँ उपवास करते हैं तो मुझपर पाप चढ़ता है। इसलिए अब इसका अन्त होना चाहिए।" गांधीजी ने कहा, "मैं कहाँ ब्राह्मण हूँ! पर आप तो महाब्राह्मण हैं।" इस पर बड़ा मज़ाक रहा। मैंने कहा, "अच्छा, आप यह आशीर्वाद दीजिये कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र आपके उपवास टूटने की खबर बंबई में सुनूँ।" फिर भी उनका मज़ाक तो जारी ही रहा। मैंने कहा, "अच्छा, यह बताइये कि आप ज़िन्दा रहना चाहते हैं या नहीं?" उन्होंने कहा, "हाँ, यह कह सकता हूँ कि मैं ज़िन्दा रहना चाहता हूँ। बाक़ी तो मैं राम के हाथ में हूँ। उपवास तो समाप्त हुआ, लेकिन राम ने उन्हें छोड़ा नहीं।

एक दीपक बुझ गया, पर हमारे लिए रोशनी छोड़ गया।

: ७ :

सबसे निराले

पंडितजी को दूर से तो मैं वैसे कई सालों से देखता आ रहा था, पर पहले-पहल मेरी मुलाक़ात उनसे १९२४ में हुई। गांधीजी अपने अपेंडिक्स के आपरेशन के बाद जेल से छूटकर आये थे और स्वास्थ्य-लाभ के लिए जुहू में ठहरे हुए थे। एक रोज़ मैं गांधीजी से मिलने को जुहू गया, तो बातों-ही-बातों में उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या जवाहरलाल को जानते हो ?" "दूर से ही देखा है, कभी मिला नहीं हूँ।" मैंने कहा। "तो मिल लो और मैत्री करने की कोशिश करो !" मैं गांधीजी के पास से उठकर पंडितजी के पास गया। वह बरामदे में एक कोने में बैठे थे। वह दृश्य मुझे स्पष्ट याद है। उनके चेहरे पर ताज़गी थी, सौन्दर्य था और जवानी थी। मुझे ऐसा भी स्मरण है कि उनके हाथ में गीता की पुस्तक थी, जिसका वह अध्ययन कर रहे थे। उस समय जो पहली छाप मुझ पर पड़ी, उससे मुझे लगा कि मैं उनके हृदय में शायद ही कभी प्रवेश कर सकूँ।

मैं स्वनामधन्य पंडित मोतीलालजी के पास काफी उठा-बैठा हूँ। लाला लाजपतराय और पंडित मालवीयजी की भी सेवा मैंने की। बापू के चरणों में बत्तीस साल तक रहा। पर पंडित जवाहरलालजी मुझे इन सबसे निराले दीखे हैं।

मालवीयजी एक निर्मल जल के सरोवर-जैसे लगते थे, जिसमें प्रवेश करने में मुझे कभी झिझक नहीं होती थी। बापू ऐसे लगते थे, जैसे गंगा की पवित्र धारा। इसमें स्नान करने से सुख और शान्ति मिलती थी और पाप और परिताप से मुक्ति मिलती थी। इन दोनों ही जलों में गोता लगाना मुझे आसान मालूम देता था। पर पंडितजी मेरी दृष्टि में सदा एक अगाध समुद्र रहे हैं, जो विशाल है, बृहत् है, अपनी ओर खींचता है, अपने लिए श्रद्धा पैदा करता है, और प्रभावान्वित भी करता है, पर जिसका अवगाहन भयप्रद है।

सन् १९२४ के बाद पंडितजी के काफ़ी परिचय में आया। उनका काफ़ी अध्ययन किया। उनके साहित्य को पढ़ा। पर मैं नहीं कह सकता कि मैं आज भी उन्हें जान पाया हूँ। पंडित-जी मेरे लिए सदा ही समुद्र की तरह 'अनवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा' रहे हैं।

एक बार मैंने स्वर्गीय महादेवभाई देसाई से पूछा था, "महादेवभाई, जवाहरलालजी को जानते हो? जानते हो तो बताओ वे क्या हैं?" उन्होंने कहा, "जवाहर ग्रीक फ़िलास्फर है। वह सौन्दर्य का उपासक है। वह कभी सौन्दर्यहीन काम नहीं कर सकता।"

गोल्डस्मिथ ने कहा है—"सुन्दर वह है जो सुन्दर करता है।" संभव है, महादेवभाई का तात्पर्य 'सत्यं सुन्दरम्' से रहा हो। जो सुन्दर है, वह सत्य भी होना चाहिए, कल्याणकारी भी होना चाहिए।

मैंने समालोचक बनकर पंडितजी का अध्ययन किया है

और मुझे लगता है, पंडितजी के संबंध में महादेवभाई का चित्रण अक्षरशः सही है। पंडितजी चाहे एक क्षण के लिए आवेश में आ जायँ, पर उन्हें उनकी न्याय-बुद्धि कभी नहीं छोड़ती। एक विशिष्ट पुरुष ने मुझसे एक मर्तबा कहा था, "जवाहरलाल क्रांतिकारी नहीं, एक उच्च कोटि का लिबरल है, जो हर चीज़ के दोनों पहलुओं को मद्देनज़र रखकर निर्णय करता है और कभी-कभी दोनों पहलुओं को इतना तौलता और मापता है कि स्पष्ट निर्णय में भी कठिनाई पाता है।" इन सब वर्णनों के बाद मुझे आश्चर्य नहीं हुआ, जब गांधीजी ने अपनी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले मुझसे एक बार कहा, "जवाहर विचारक है, सरदार कारक है।"

पंडितजी के भीतर जो मंथन और संघर्ष चलता रहता है, उसकी छाप हर बारीकी से अध्ययन करनेवाले पर पड़े बिना नहीं रहती। हर चीज़ के स्पष्ट निर्णय में जो एक विचारक को कठिनाई पड़ती है, उसका आभास उसकी भाव-भंगी से मिलता है। पंडितजी हँसते हैं तो भी एक तरह की उदासी उनके चेहरे पर से कभी नहीं हटती। दिलीप के बारे में कालि-दास ने कहा है कि उसमें 'वृद्धत्वं जरया विना' था। पंडितजी में 'वृद्धत्वं जरया बिना' और 'विना बाल्येन चापल्यं' दोनों हैं। नम्रता है तो आवेश भी है। उत्साह है तो थकान भी है। दिल ग़रीब है तो तबीयत रईसाना भी है। हठ है पर समन्वय है। बहादुर हैं तो लोकमत के सामने झुकते हैं। कुशाग्रबुद्धि हैं, पर उनमें सीधापन भी है। यह सब द्वन्द्व इस तरह से भीतर

संग्राम करते हैं कि इसका प्रतिबिंब पंडितजी के चेहरे पर आ ही पड़ता है।

साधारण मान्यता है कि पंडितजी को धर्म में कोई श्रद्धा नहीं है, न उन्हें ईश्वर मान्य है। कभी-कभी पंडितजी के सार्वजनिक उद्‌गारों से इस कथन का समर्थन भी होता है। पर इसमें भी मतभेद की काफी गुंजायश लगती है। धर्म क्या है और ईश्वर क्या है, इसकी सम्पूर्ण व्याख्या के बाद ही यह निर्णय हो सकता है कि पंडितजी के ईश्वर-संबंधी मन्तव्य क्या हैं। पर गांधीजी इस कथन का भी विरोध करते थे। बहस में एक बार उन्होंने मुझसे कहा, "जवाहर नास्तिक नहीं है। जो मनुष्य कहता है, आज़ादी अवश्य मिलेगी, उसके इस कथन का आधार विज्ञान नहीं, श्रद्धा है। और श्रद्धा आस्तिकता का प्रदर्शन है, नास्तिकता का नहीं।" यह सही है। कुछ दिन पहले इलाहाबाद साइंस-कांग्रेस में व्याख्यान देते समय पंडितजी ने कहा, "मैं पन्तजी से सहमत नहीं हूँ जब वह कहते हैं कि क़ुदरत का क़ानून अस्थायी है। असल में तो क़ुदरत का क़ानून अटल और अजय है। मनुष्य उसे समझने में और उसपर विजय पाने में अब तक निष्फल रहा है। जो कुछ हुआ है वह इतना ही कि मनुष्य क़ुदरत से सहयोग करके उसका उपयोग करता रहा है।" यह नास्तिकता नहीं, परले सिरे की आस्तिकता है।

साधन और साध्य में सामंजस्य को गांधीजी ने अपने प्रवचनों में काफी महत्त्व दिया है। अच्छे ध्येय के लिए भी बुरे साधनों का प्रयोग त्याज्य है, इस पर गांधीजी ने जितना

भार दिया है, उतना हमारे प्राचीन लोगों ने शायद ही दिया हो।

राजनैतिक दाँवपेंच हर युग में चलते रहे हैं और हमारे पूर्वज भी इन दाँवपेंचों से वंचित न थे। देव-दानवों के संघर्ष में देवों की गिरती आई तो वामन ने बाली को धोखा दिया। इसके पहले श्री विष्णु ने मोहिनी बनकर दैत्यों से अमृत चुराया। राम ने छिपकर बाली को मारा। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। भारत की भविष्य की परराष्ट्र-नीति इन दाँवपेंचों का तिरस्कार करेगी, ऐसा मानने की भी कोई गुंजाइश नहीं। पर गांधीजी इस पैंतरेबाज़ी से परे थे और उस नीति का जवाहरलालजी पर भी प्रभाव पड़ा है, ऐसा उनके अनेक उद्गारों से पता चलता है। गांधीजी का यह स्वर्ण-नियम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कभी कसौटी पर नहीं चढ़ा। जवाहरलालजी यदि इसको व्यावहारिक रूप में सफल कर दिखायेंगे तो अवश्य ही हमारी एक अद्भुत विजय होगी।

जवाहरलालजी एक महान् व्यक्ति हैं। उनमें महत्ता क्या है, इसका विश्लेषण कष्टसाध्य है। सोना या हीरा महज़ अपने बुनियादी तत्त्वों के कारण ही कीमती नहीं होता। कहते हैं, जो तत्त्व हीरे में हैं, वे कोयले में भी हैं। पर कोयला कोयला ही है और हीरा हीरा ही। पंडितजी में अभय है, न्यायबुद्धि है, कुशाग्रता है, तेजस्विता है, विद्वत्ता है और ऊँचे दरजे की साहित्यिक कला-कुशलता है। पर उन्हें किस चीज़ ने बड़ा बनाया, यह बताना असम्भव है। बात यह है कि वह बड़े हैं और इस देश को उनकी सेवा की अत्यन्त आवश्यकता है।

फरवरी, १९४९

: ८ :

जमनालालजी

सोमवार की बात है। जमनालालजी से मिले दो-तीन दिन हो गए थे। मैं तो था सेवाग्राम में और जमनालालजी वर्धा में। मैंने सोचा, चलो, जमनालालजी को यहाँ बुला लें और कुछ इधर-उधर की बातें भी कर लें। इसलिए मैंने सन्देश भिजवा दिया कि ज़रूरी काम है, मिल जाइयेगा।

उस दिन जमनालालजी की तबीयत खराब थी। सिर में कुछ चक्कर आ रहे थे। मेरा सन्देश उन्हें मिला तब दोपहर की कड़ी धूप थी। सन्देश मिलने पर उन्होंने जानकीदेवी से कहा, "घनश्यामदास के पास कोई ज़रूरी काम नहीं है। आज बापू का मौनवार है, इसलिए मालूम होता है, वह अकेला ऊब गया है और महज़ दिलबहलाव के लिए मुझे बुला भेजा है। पर मैं तो जाऊँगा।" जानकीदेवी ने कहा, "कोई ज़रूरी काम नहीं है तो न जाइये। उसे क्या पता, आपकी तबियत आज ढीली है।" पर जमनालालजी का स्वभाव ही ऐसा था कि वे अपने शरीर की कम परवा करते थे। जब उनका ज़्यादा हठ देखा तो जानकीदेवी ने कहा, "अच्छा, जाना है तो शाम को जाइये। इस दोपहर की धूप को तो टाल दीजिये।"

जानकीदेवी का आग्रह मानकर जमनालालजी दोपहर के बजाय शाम को सेवाग्राम पहुँचे। मैंने उन्हें देखते ही मज़ाक

में कहा, "वहाँ बिना काम आप पड़े थे, इसलिए मैंने यहाँ बुला लिया। कोई काम तो नहीं था।" जमनालालजी ने भी हँसकर कहा, "देखो, मैंने तो जानकी से पहले ही कह दिया था कि कोई काम नहीं है। पर तो भी चला आया, हालाँकि आज मेरी तबीयत अच्छी नहीं थी।"

तबीयत की ख़राबी का ज़िक्र आते ही मेरी हँसी ग़ायब हो गई। मैंने कहा, "आप आये ही क्यों? मुझे कुछ काम की बातें भी करनी थीं। पर अब नहीं करूँगा। फिर करेंगे। आप फ़ौरन लौट जाइये।" तो भी वे बैठ गए। कुछ इधर-उधर की बातें कीं। मालूम हुआ, उन्हें कुछ चक्कर आ रहे थे। मैंने कहा, "आप जाइये! स्वस्थ होने पर फिर बातें कर लेंगे।"

मुझे पता भी नहीं था कि जमनालालजी का इन दिनों रक्त-दबाव बढ़ गया था। ऐसा पता होता तो चक्कर का नाम सुनते ही मैं चौकन्ना हो जाता। मैंने पूछा भी नहीं कि रक्त-दबाव की शिकायत तो नहीं है?

"वृहस्पतिवार को आऊँगा।" जमनालालजी ने कहा।

वृहस्पति को सेवाग्राम और वर्धा के बीच की पहाड़ी पर सुबह साढ़े सात बजे हम मिलेंगे, ऐसा निर्णय हम दोनों ने कर लिया और जमनालालजी वर्धा के लिए चल पड़े। जाते-जाते महादेवभाई से कह गए—"महादेव, कुछ चक्कर-सा आता है। घनश्यामदास का वारंट गया, इसलिए चला आया। पर जाता हूँ।" महादेवभाई ने कहा, "विश्राम लीजिये!" उन्हें पता था कि जमनालालजी को रक्त का दबाव अधिक था, उस

समय दबाव ज्यादा था या कम, इस जाँच की कोई आवश्यकता भी उस समय उन्हें महसूस नहीं हुई।

जाते-जाते जमनालालजी ने सोचा, चलो, बापू को भी तो नमस्कार कर चलें। गांधीजी की कुटी की तरफ गये तो पता चला कि गांधीजी भोजन के लिए भोजनालय की तरफ चले गए हैं। इसलिए बिना नमस्कार किये ही अपने ताँगे की ओर चल दिये। गांधीजी ने जाते हुए जमनालालजी की पीठ देखी। गांधीजी का मौन था, इसलिए उन्होंने इन्हें पुकारा नहीं, हालाँकि गांधीजी की इच्छा हुई कि जमनालालजी मिल जाते तो ठीक था। जमनालालजी उनसे मिले नहीं, इसलिए गांधीजी को यह भी पता नहीं चला कि उस दिन जमनालालजी कुछ रुग्ण थे और उन्हें चक्कर आ रहे थे।

ताँगे में बैठे-बैठे फिर जमनालालजी ने पुकारकर मुझसे कहा, "बृहस्पति को आऊँगा।"

"पूरा आराम लीजियेगा, जल्दी न कीजियेगा।" मैंने उत्तर में कहा।

बुध को जमनालालजी बिलकुल स्वस्थ थे। सुबह टहलने गये। मित्रों से कहा, "आज तबीयत बिलकुल दुरुस्त है।" दो दिन तक उन्होंने उपवास किया था। उसका काफी अच्छा असर हुआ। बुध को बारह बजे उन्होंने भोजन किया और तीन घंटे बाद इस संसार से विदा ले ली।

बृहस्पति को साढ़े सात बजे सुबह सेवाग्राम और वर्धा के बीच की पहाड़ी पर हमारी भेंट होनेवाली थी। बीच में यह दुर्घटना हो गई। तो भी जमनालालजी ज़िन्दा ही हैं, ऐसा

लगता था। मैं सुबह उस पहाड़ी पर टहलने गया, जहाँ हम दोनों ने मिलना तय किया था। "जमनालालजी ! ओ ! ओ ! ओ ! जमनालालजी !" कई मरतबे मैंने ज़ोर की आवाज़ दी। पर सिवा जंगल की प्रतिध्वनि के और कोई उत्तर नहीं मिला।

जमनालालजी सचमुच हमसे बिदा हो चुके थे !

मैंने महादेवभाई से कहा, "महादेवभाई, क्यों नहीं मैंने जमनालालजी से पूछा कि आपको रक्त का दवाव तो नहीं है ? यदि मैंने प्रश्न किया होता तो मुझे उनकी बीमारी का भेद खुल गया होता और हम लोग सावधानी से उनका उपचार करते।"

महादेवभाई ने कहा, "क्यों नहीं मैंने जानते हुए भी कि उनको अधिक रक्त-दवाव की शिकायत है, उनकी उसी समय हमारे सेवाग्राम के डाक्टर से परीक्षा करवा ली ? यदि मैं ऐसा करवा लेता तो मुझे पता चल जाता कि उनका रक्त-दबाव काफी ऊँचा है और उन्हें सेवाग्राम से जाने नहीं देता और लिटाकर रखता।"

"क्यों नहीं," गांधीजी ने कहा, "जमनालाल सेवाग्राम आकर भी मेरी तरफ आया ? यदि वह मुझसे मिलता तो अवश्य अपने चक्कर की बात मुझे कहता और मैं उसी समय उसे सेवाग्राम में क़ैद करके पूरा विश्राम लेने के लिए बाध्य करता।"

पर इस 'क्यों नहीं'. . . . का उत्तर कौन दे ? कितनी बार हम "क्यों नहीं" कहते हैं, पर इसका उत्तर तो यह है :

अभूतपूर्वो न च केन दृष्टो,
हेम्नः कुरंगो न कदापि वार्ता।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य,
विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥

——सोने के मृग भी कभी हुआ करते हैं——साधारण मनुष्य को भी यह ज्ञान तो है। फिर राम-जैसे महापुरुष को यह अविदित थोड़े ही था कि सोने के मृग नहीं होते। फिर रामचन्द्र-जी जैसों को स्वर्णमृग-चर्म की तृष्णा क्यों? पर बात तो यह है कि जब कोई दुर्घटना होनेवाली होती है तो निर्णय भी विपरीत हो जाता है——

यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः!

: ६ :

महादेव देसाई

महादेवभाई से मेरा परिचय पहले-पहल कब हुआ, यह तो आज मुझे स्मरण भी नहीं है। लम्बे अरसे की घनिष्ठ मैत्री की तह में वह तिथि दब-सी गई है। पर महादेवभाई के मीठे संस्मरणों पर दृष्टिपात करता हूँ तो मुझे विश्वास नहीं होता कि वह मर गए—और फिर जब यह पाता हूँ कि हमारे लिए वह आज सदा के लिए अप्राप्य हो गए हैं तो एक लम्बी आह निकल पड़ती है। मरण इस जीवन का नैसर्गिक अंत है और मृत्यु का अंत जीवन ही होगा, ऐसा भी मान लेना चाहिए। पर तो भी स्वजन की—और सो भी सुजन की—मृत्यु अवश्य ही छलकते हुए हृदय पर मुर्दनी-सी छा देती है। तभी तो भर्तृहरि ने कहा है—"पता नहीं, यह जगत् ज़हर है या अमृत !"

महादेवभाई के संस्मरण लिखना मेरे लिए आसान भी है तो कठिन भी। इतने संस्मरण हैं कि कहाँ से आरम्भ करूँ और कहाँ अंत करूँ ! और सारे-के-सारे संस्मरण अत्यन्त सुखदायी हैं। मुझे याद नहीं आता जब महादेवभाई को मैंने रूठा हुआ पाया हो या क्रुद्ध देखा हो। हँसी तो उनके चेहरे पर आठों पहर खेलती रहती थी। महादेवभाई भावुक श्रद्धालु होते हुए भी व्यावहारिक थे। वह हर-पल कार्य में तत्पर रहते थे। वह निरालस्य थे। ज्ञान के वह भंडार थे। गंभीर होते

हुए भी मज़ाक की उनमें कमी नहीं थी। बापू के मंत्रिपद को उन्होंने बड़ी शान के साथ सुशोभित किया और अन्त में बापू की सेवा करते-करते मर गए। राजाजी ने सच कहा है, "महादेवभाई की मृत्यु से बापू अनाथ हो गए हैं।"

किसी एक सम्मानित पुरुष को पत्र लिखते समय महादेवभाई ने लिखा था, "मैं बापू का मंत्री, सेवक और पुत्र का एक सम्मिलित पुलिंदा हूँ।" मैंने महादेवभाई को इन तीनों रूपों में देखा है। मुझसे तो महादेवभाई का घनिष्ठ भाईचारा था, अतः मेरे लिए उनका मंत्रित्व कोई खास मानी नहीं रख सकता था। पर तो भी मेरे पास भी महादेवभाई बापू के मंत्री बनकर आ सकते हैं, इसका एक मर्तबा मुझे दिलचस्प अनुभव हुआ और उसके कारण महादेवभाई की योग्यता का मैं और भी क़ायल हो गया।

बहुत वर्षों की बात है। गांधीजी दिल्ली आये हुए थे और हरिजन-निवास में ठहरे थे। उन्हीं दिनों कवि-सम्राट् टैगोर भी 'विश्वभारती' के लिए धन संग्रह करने के दौरे पर निकले थे। वह भी दिल्ली आ पहुँचे। कवि-सम्राट् का कार्यक्रम यह था कि जगह-जगह वह अपनी कला का प्रदर्शन करें और बाद में लोगों से धन के लिए प्रार्थना करें। गांधीजी को यह चीज़ चुभ-सी गई। एक इतना बड़ा पुरुष 'गुरुदेव' इस बुढ़ापे में जगह-जगह धन एकत्र करने के लिए—और सो भी कुल साठ हज़ार रुपयों के लिए—अपने नाट्य और नृत्य का प्रदर्शन करे, यह गांधीजी को असह्य लगा। मैं तो गांधीजी से रोज़ ही मिलता था, पर मुझसे उन्होंने इसका कोई ज़िक्र नहीं

किया। लेकिन उनकी वेदना बढ़ती जाती थी और जब उसे वह बर्दाश्त न कर सके तो महादेवभाई से उन्होंने अपना सारा दर्द बयान किया।

पहर रात बीती थी। मैं अभी सोया नहीं था। सोने की तैयारी में लेट गया था। बत्ती बुझा दी थी। अचानक किसी के पाँव की आहट पाकर मैं सचेत हो गया। "कौन है?" मैंने पूछा। महादेवभाई ने कहा, "मैं हूँ।" महादेवभाई चुप-चाप मेरे कमरे में आकर मेरी खटिया के पास बैठ गए। "महा-देवभाई, तुम! रात को कैसे? सब मंगल तो है न?" "हाँ, सब मंगल है। कुछ सलाह के लिए आया हूँ।" मैं खटिया पर से उठने लगा। महादेवभाई ने कहा, "लेटे रहिये, लेटे-लेटे ही बातें कर लीजिये, उठने की कोई ज़रूरत नहीं।" मैंने फिर उठना चाहा, पर अन्त में महादेवभाई के आग्रह से लेटा ही रहा। "हाँ, तो क्या है? कहो!" मैंने पूछा। बस, फिर तो महादेवभाई का प्रवचन चला। मुझमें शक्ति नहीं कि मैं उसे लिपिबद्ध कर सकूँ। जिस ओज और कला के साथ उन्होंने गांधीजी की मर्मवेदना का चित्र खींचा, वह देखने लायक़ था। सारा दृश्य मेरी आँखों के सामने नाचने लगा। महादेवभाई की वाणी में भावुकता थी, मृदुता थी और थी तेजस्विता।

गुरुदेव का गुणगान और हमारा दुर्भाग्य कि गुरुदेव को थोड़े-से धन के लिए इस बुढ़ापे में नाचना पड़े तथा बापू की अंतर्वेदना—इन सब चीजों का मर्मस्पर्शी चित्र हृदयंगम करते ही मुझे रुलाई आने लगी।

"बापू ने कहा है कि घनश्यामदास से कहो, वह अपने धनी

मित्रों को लिखे कि कुल छः जने दस-दस हज़ार की रकम गुरु-देव को देकर हिंदुस्तान को इस शर्म से बचा लें और गुरुदेव को निश्चिन्त करके शांतिनिकेतन वापस भेज दें।" महादेवभाई ने अपने अभिभाषण की समाप्ति में कहा।

"महादेवभाई, बापू की पीड़ा को मैं समझ सकता हूँ, पर तुम इतनी रात गये, ठिठुरते जाड़े में, यहाँ क्यों आये? बापू स्वयं भी निर्णय कर सकते थे। मैं किसके पास भिक्षा माँगने जाऊँ? बापू से कहो कि जो देना हो, मुझसे मँगा लें और गुरुदेव को दे दें।" मैंने ऐसा कहा तो सही, पर इसका श्रेय तो महादेवभाई को ही था, क्योंकि उनके शांत, पर मार्मिक अभि-भाषण ने मेरे लिए दूसरा कोई निर्णय छोड़ा ही न था।

एक चतुर कलाकार मिट्टी के लोंदे को जिस तरह अपनी अंगुलियों की करामात से जी-चाहा रूप दे देता है, उसी तरह महादेवभाई ने लोगों के दिल पर मनमाना असर डालकर उसे अपने अनुकूल बना लेने की शक्ति प्राप्त कर ली थी और वह शक्ति अद्‌भुत थी। उनकी लेखनी में भी वही ओज था। पर ज़बान में भी कम करामात न थी। पारंगत मंत्री को कभी विनम्र तो कभी रूखा, कभी सहनशील तो कभी असहिष्णु, कभी भावुक तो कभी व्यावहारिक, बनना पड़ता है। महादेव-भाई एक कलाकार की तरह आवश्यकतानुसार इन सब भावों का प्रदर्शन कर सकते थे।

ठक्करबापा जब सत्तरवें वर्ष में पहुँचे तो उनके कुछ मित्रों ने उनकी 'मंगल-सत्तरी' मनाने का निश्चय किया। और वह निश्चय भी नितान्त निर्जीव था। सत्तरी के उपलक्ष्य में सत्तर-

सौ—यानी सात हज़ार—रुपया इकट्ठा करना, इतना ही निश्चय था। गांधीजी ने सुना तो कहा, "ठक्करबापा की सत्तरी में केवल सत्तर सौ? न तो सत्तर हज़ार, न सात लाख। कम-से-कम सत्तर हज़ार तो इकट्ठा करना ही है।" पर सत्तर हज़ार भी प्रस्तावकों को पहाड़-सा लगा। सत्तरी के दिन नज़दीक आने लगे, पर धन एकत्र न हो सका। अन्त में गांधीजी ने महादेवभाई को बंबई भेजा। अब तो धन बरसने लगा और दो दिन में एक लाख बीस हज़ार एकत्र हो गया।

कुछ साल बीते, गुजरात में अकाल पड़ा। तब फिर गांधीजी ने महादेवभाई को बंबई धन एकत्र करने के लिए भेजा। निश्चय किया था कोई तीन लाख इकट्ठा करना, पर इकट्ठा हो गया कोई सात-आठ लाख। सबसे आश्चर्य तो यह था कि महादेवभाई को ऐसे लोगों से भी अच्छी रकम मिली, जो अपनी कंजूसी के लिए बाज़ीमार समझे जाते थे।

सचमुच महादेवभाई गांधीजी के महज़ एक मंत्री ही नहीं, बल्कि एक दूसरे शरीर बन गए थे। गांधीजी के विचारों को उन्होंने इतना पी लिया था और उन्हें इतना हज़म कर लिया था कि वह गांधीजी के मंत्री ही नहीं, ऐन मौक़े पर गांधीजी के सलाहकार और संचालक तक बन बैठते थे।

कुछ ही दिनों पहले एक विलायती अखबार का प्रतिनिधि मौजूदा परिस्थिति पर गांधीजी का एक वक्तव्य लेने के लिए आया। गांधीजी ने खाते-खाते महादेवभाई को वक्तव्य लिखाना आरंभ किया। मैं देख रहा था कि महादेवभाई की क़लम इस सिफ़त के साथ चलती थी कि गांधीजी की ज़बान से जो भाषा

निकलती थी, उससे दो-एक शब्द आगे उनकी क़लम निकल जाती थी, अर्थात् गांधीजी अमुक शब्द के बाद किस शब्द का प्रयोग करेंगे, इसका महादेवभाई को अंतर्ज्ञान था, जिसके कारण उनकी लेखनी अपना काम कर चुकती थी। पर जहाँ गांधीजीकी जबान से कोई अनुपयुक्त शब्द निकला कि महादेवभाई की लेखनी रुक जाती थी। कुछ अपनी नापसंदगी उस शब्द के संबंध में महादेवभाई ज़ाहिर करते थे, कुछ वाद-विवाद, फिर समझौता और फिर लेखनी का प्रवाह जारी। यह एक दिलचस्प दृश्य होता था। पर इसके अलावा मैंने यह भी देखा है कि गांधीजी गुजराती या हिन्दी में व्याख्यान दे रहे हैं और महादेवभाई प्रेसवालों के लिए उसका अंग्रेजी में उल्था करते जाते हैं, और क़लम गांधीजी की जबान के साथ-साथ दौड़ती जाती है। यह करामात हर मनुष्य में नहीं होती।

गांधीजी के अनन्य उपासक होते हुए भी महादेवभाई के अपने स्वतंत्र विचार थे। गांधीजी के विचारों का विरोध करने की उनमें क्षमता थी। गांधीजी से भिड़ जाने की उनमें शक्ति थी और गांधीजी पर उनका खूब असर पड़ता था। वह कभी-कभी बापू की कड़ी आलोचना करते थे, पर शुद्ध भक्ति-भावपूर्वक। लेकिन जहाँ गाँधीजी ने एक अंतिम निर्णय किया कि बस, महादेवभाई अडिग निश्चय के साथ गांधीजी की योजना में कूद पड़े। संशय-कल्लोल में खेलना उन्हें पसंद नहीं था।

गांधीजी की चेष्टाओं और वेश-भूषा की महादेवभाई ने कभी नक़ल नहीं की। उन्हें कभी 'उपगांधी' बनने का शौक़

पैदा नहीं हुआ। आजीवन वह गांधीजी के अनन्य अनुचर रहे और उनके विचारों को रोम-रोम में भरकर उनके साथ अभिन्न भी हो गए थे।

दो-तीन सालों में कई मर्तबा महादेवभाई ने गांधीजी से बहस करके उनके उपवास-संबंधी विचारों पर प्रहार किया। कई मर्तबा उन्होंने गांधीजी के उपवास-संबंधी निर्णयों को बदलवाया भी था।

कहाँ ऐसे मंत्री होते हैं जो मंत्री भी हों और सलाहकार भी हों, जो सेवक भी हों और पुत्र भी हों!

शायद सबको इसका पता भी न हो कि महादेवभाई ने कई साल पहले गीता का अंग्रेजी में अत्यन्त प्रामाणिक अनुवाद कुछ टीका के साथ किया था। ज्ञान का भंडार तो महादेवभाई का अनुपम था ही। जितना उन्हें पाश्चात्य दर्शन का ज्ञान था, उतना ही हमारे शास्त्रों का भी था। इसलिए गीता के अनुवाद के वह अवश्य ही शास्त्रीय अधिकारी थे। अपने किये हुए अनुवाद के कई अंश उन्होंने मुझे समय-समय पर सुनाये, जो मुझे अत्यन्त आकर्षक लगे। वह अनुवाद अबतक छपा ही नहीं। कई मर्तबा मैंने उन्हें उसे छपाने का तक़ाज़ा किया, पर असल बात तो यह थी कि गांधीजी की टहल-चाकरी से उन्हें इस अनुवाद को छपाने की फुर्सत ही नहीं मिली। गांधीजी के संबंध में समय-समय पर लिखी हुई इतनी टीपें (नोट्स) उनके पास थीं, वे गांधीजी की वृहत् जीवनी के लिए एक अत्यन्त उपयोगी मसाला हैं। मैं कहा करता था, "महादेवभाई, बापू का वृहत् जीवन-चरित कभी तुम्हें ही लिखना है।" और

महादेवभाई बड़े उल्लास के साथ हामी भी भरते थे, पर वह दिन नहीं आया। "मन की मन ही माँहि रही।"

पर महादेवभाई की मृत्यु अचानक हुई है, ऐसी बात नहीं है। काल भगवान् का पहला न्यौता तो उन्हें पाँच साल पहले ही आ गया था। गांधीजी के अत्यन्त आग्रह से उन्होंने उस समय विश्राम लिया और मृत्यु की भेंट से बचे। राजकोट-प्रकरण के ज़माने में फिर उन्हें दूसरा न्यौता मिला। इस समय वहाँ दिल्ली में आकर मेरे पास दो महीने रहे और फिर रोग-मुक्त हुए। इसके बाद तो गांधीजी के आग्रह करने पर भी उन्होंने विश्राम लेने से इन्कार किया। आठेक महीने पहले फिर अचानक रोग ने उनपर आक्रमण किया, पर लाख कहने पर भी दो सप्ताह से ज़्यादा उन्होंने विश्राम नहीं लिया।

कुछ समय पहले की बात है। जेठ की दुपहरी थी। गांधी-जी के साथ कड़ी धूप में चलते-चलते उन्हें बेहोशी आ गई थी। इसका विवरण सुनकर महादेवभाई से मैंने कहा, "महादेवभाई, यह शर्म की बात है कि बूढ़े बापू तो धूप में चल सकें और तुम बेहोश हो जाओ। कुछ दिन मेरे साथ रहकर विश्राम कर लो और सुदृढ़ बन जाओ।"

पर महादेवभाई की दीर्घदृष्टि के सामने कांग्रेस का आन्दो-लन था। गांधीजी के उपवास की आशंका थी। इसलिए उनको न थी विश्राम में रुचि, न थी उन्हें फुर्सत। उपवास की आशंका से महादेवभाई काफी त्रस्त थे। उन्होंने मेरे तक़ाज़े के उत्तर में कहा, "मैं तीन महीने भी विश्राम ले लूँ, तो भी मैं कहाँ बापू की बराबरी करने लायक़ बनूँगा!" मुझसे कहाँ

धूप में चला जायगा? मैं कहाँ लंबी जिंदगी पाऊँगा? अच्छा हो, मैं तो काम करते-करते ही बापू की गोद में सिर टेके मर जाऊँ!"

और जैसे भगवान् ने भी कहा–'एवमस्तु!'

कैसा था वह रतन, जो चला गया!

: १० :

ठक्करबापा

व्यासजी ने कहा था कि करोड़ों पोथियों में जो बताया गया है, वही मैं आधे श्लोक में बता देता हूँ—'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।' अर्थात्—परोपकार ही पुण्य है और दूसरों को पीड़ा देना ही पाप है। ठक्करबापा को केवल इतने ही कथन से पर्याप्त चित्रांकित किया जा सकता है कि इस आधे श्लोक में बताये धर्म को उन्होंने अपने जीवन में पूरी तरह से ओत-प्रोत किया है।

बापा के संसर्ग में मैं किस सन् या तारीख में आया, यह तो मुझे स्मरण नहीं, पर इतना अवश्य याद है कि उस समय उनका अमृतलाल ठक्कर ही नाम चलता था और पिछड़े हुए लोगों की सेवा करना उनका पेशा था। 'बापा' की उपाधि तो उन्हें पीछे से मिली, जो नितान्त सार्थक है।

कहते हैं, ठक्करबापा गृहस्थ थे और इंजीनियर भी थे। सुना है कि अफ्रीका में रेल की पटरियाँ डालने का काम उनके सुपुर्द किया गया था, जिसे उन्होंने अच्छे शऊर के साथ पूरा किया। पर उनकी जीवन-झाँकी, रहन-सहन या वेश-भूषा से उनका गृहस्थ होना या इंजीनियर बनकर रेल की पटरियाँ बिछाना कुछ अनोखा-सा लगता है। ठक्करबापा के असली माने तो उनके जानकारों के लिए इतना ही है कि वह एक शुद्ध,

विनम्र और ग़रीबों के निःस्वार्थ सेवक हैं, जिनमें न थकान है और न अभिमान। सेवा में विघ्न आने पर उन्हें अवश्य रोष होता है, पर क्षणिक, और लोगों के दुःख से उन्हें चोट लगती है वह स्थायी। उनकी कोई फ़िलासफी है तो सेवा की और भक्ति है तो ग़रीब, पीड़ितों की।

मेरा गाढ़ संबंध ठक्करबापा से हुआ १९३२ में। बापू जब यरवदा में आमरण उपवास की दीक्षा लेकर मृत्यु-शैया पर लेटे थे, तब हम कुछ लोग श्री अम्बेडकर से बातचीत करके किस तरह हरिजन-गुत्थी को सुलझावें, इस चिन्ता में डूबे पड़े थे। समय बीतता जाता था और बापू का शरीर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर डूबता जा रहा था। कुछ लोग सीटों की खींचतान में थे, जिनपर हम लोगों को रोष आता था। उस समय कितनी सीट न्यायानुकूल हरिजनों को मिलें, इसका हिसाब निकालने का भार ठक्करबापा पर रक्खा गया और उन्होंने इस भार को पक्षपात-रहित होकर उठाया। पूना-पैक्ट का प्राण हरिजनों को दिया हुआ मताधिकार है, जो ठक्कर-बापा की कृति है। इस दस्तावेज़ पर हम लोगों ने आँख मूँद-कर हस्ताक्षर किये।

उसके बाद जब 'हरिजन-सेवक-संघ' गठित करने का प्रस्ताव हुआ और मुझे उसका सभापति बनने का आदेश हुआ, तब इसी शर्त पर मैंने इसे स्वीकार किया कि संघ का मंत्रित्व ठक्करबापा को सौंपा जाय। सत्तरह साल इस तरह ठक्कर-बापा के संसर्ग में बीते, जिसकी स्मृति मुझे चिरस्थायी रहेगी।

ठक्करबापा के संबंध में अधिक लिखना बेकार है। काग़ज़, क़लम और स्याही उनकी कृति का क्या वर्णन दे सकती है! मेरा यह सद्भाग्य है कि मुझे एक साधु का संसर्ग मिला।

: ११ :

मणीबेन

किसीके जीवन का चित्र खींचते समय अमुक व्यक्ति कब जन्मा, उसने कब-कब क्या-क़्या किया, इस चक्कर में फँसना फिजूल समय गँवाना है, क्योंकि किसीके भी जीवन के संबंध में जानना तो हमें इतना ही है कि उसमें ऐसी कौन-कौनसी ख़ूबियाँ थीं, जिनसे कि हम कोई सबक सीखें।

कहने के लिए तो जन्म से मृत्यु तक हर मनुष्य के जीवन में एक अविच्छिन्न शृंखला बतायी जाती है, जो हर मंज़िल में उसके व्यक्तित्व को व्यक्त करती रहती है। तात्पर्य ऐसा कहनेवालों का यह है कि जो व्यक्ति जन्म के समय था, वही जवानी में है और मृत्यु के समय भी वही रहेगा। किसीके मन्तव्य या विश्वास को ठेस लगाना, यह अभिप्राय कदापि नहीं है; पर जो जन्मा था वही युवा हुआ और वही वृद्ध होकर मरेगा, यह प्रमाणित करना ज़रा कठिन है; क्योंकि मनुष्य हर घड़ी और हर अवस्था में सतत बदलता रहता है। ज्यों-ज्यों आयु बीतती है, न तो वह पुराना शरीर ही रहता है और न वह पुराना मन और बुद्धि ही।

आत्मा क्या है? उसे तो हम देख नहीं पाते, इसलिए उसके तर्क-वितर्क में न पड़ना ही अच्छा है। पर इस कथन की भी कोई बुनियाद नहीं कि आत्मा जीवन-भर 'अपरिवर्तन-

शील' रहती है। कहनेवाले यह भी तो कहते हैं कि आत्मा एक शुद्ध, बुद्ध, अनादि वस्तु है जो सदा, सब जगह और सबमें एकरस हो व्याप्त रहती है, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न नहीं। यदि ऐसा ही हो, तो फिर मनुष्य अपनी निजी आत्मा की अलग हस्ती का दावा भी कैसे करें! इसलिए जिससे हम कल मिले थे, आज भी वह वही है, यह शुद्ध सत्य नहीं कहा जा सकता।

जो हो, प्रस्तुत प्रसंग तो मणीबेन का है और कहना यह है कि वह कब जन्मी, कैसे पली, क्या शिक्षा पाई, उसने कैसे त्याग को अपनाया, ये अनावश्यक प्रश्न हैं; क्योंकि जिस मणीबेन की मैं बात करना चाहता हूँ, वह मणीबेन तो वह है जो इन कुछ सालों में जनता के सामने आई, और वह सचमुच एक अद्भुत चरित्रवाली तपस्विनी है, जिसका जोड़ ढूँढ़ना आसान नहीं।

१९४५ के जाड़े की बात है। दिल्ली में कड़ाके की सर्दी पड़ती थी। आकाश स्वच्छ रहता था और दिन में धूप प्रखर होते हुए भी प्रिय लगती थी। उसी जाड़े में सरदार वल्लभभाई पटेल राज-प्रकरण को लेकर दिल्ली आये थे। मणीबेन भी साथ थी। वैसे तो मैं सरदार और मणिबेन दोनों को वर्षों पहले से जानता था, पर १९४५ के बाद के पाँच वर्षों में पिता-पुत्री से जो निकट संपर्क हुआ, उसीसे उनके हर पहलू का अध्ययन करने का मुझे विशेष अवसर मिला।

रात को हमलोग रोज़ कमरा बन्द करके अँगीठी जलाकर तापते थे। सरदार को हमलोगों पर इसी कारण तरस आता था। वे स्वयं तो एक खादी का कुरता और एक गर्म

जाकेट में ही कड़ाके की सर्दी का सामना कर लेते थे और मणीबेन की आवश्यकता तो और भी कम थी। खादी की एक मोटी सफेद साड़ी और एक सफेद जाकेट इतना ही उसके लिए पर्याप्त था, चाहे कैसा ही हड़कंप जाड़ा क्यों न पड़ रहा हो।

कुछ-कुछ अधपके बाल, कद की नाटी और वज़न की अत्यन्त हल्की, जीर्णकाय मणीबेन यदि मुँह पर सफेद पट्टी बाँध लेती तो वह जैन साध्वी में भी खप सकती थी। व्यवस्था-प्रिय मणीबेन हर चीज को अपने कमरे में व्यवस्थित रखती थी और सरदार की भी व्यवस्था करती थी। बाप-बेटी समय के इतने पाबन्द थे, मेज़बान की सुविधा-असुविधा का उन्हें इतना ख़याल रहता था कि उसे संकोच में डाल देते।

सरदार के दिमाग़ की मशीन हर समय काम करती ही रहती थी। उनको जीर्ण जुक़ाम की शिकायत सदा बनी रहती थी। इसलिए नाक को रूमाल से बार-बार साफ करते रहते थे और नाक को बार-बार खुजलाते हुए कमरे में टहलते रहते थे। बैठने की आदत उन्हें कम थी। टहलते-टहलते अचानक कह देते—"बुलाओ अमुक को!" नया आदमी शायद इसका अर्थ भी न समझे। किसे और कहाँ से बुलाओ? पर मणीबेन जानती थी कि वह संबोधन उसके लिए है और बुलाने के माने हैं अमुक को टेलीफोन पर बुलाना। कभी-कभी टेलीफोन पर आमंत्रित वह सज्जन पूने में होता था, तो कभी बंबई, कलकत्ता, नागपुर या पेशावर में; पर मणीबेन ने सबके टेलीफोन के नंबरों की अपने दिमाग़ में एक पक्की नोंध कर रक्खी थी, जिसके

कारण विना कुछ हिचकिचाये वह अपने काम पर जम जाती। मेरे मन पर उसकी इस अद्‌भुत कार्यक्षमता की यह पहली अमिट छाप पड़ी।

मणीबेन के जीवन का क्या लक्ष्य रहा है, सो तो शायद वह भी ठीक तरह से न बता सके, क्योंकि मनुष्य जबतक अपने-आप का अध्ययन नहीं करता, तबतक स्वयं भी नहीं जानता कि वह क्या है। पर एक चीज़ स्पष्ट है। मणीबेन के जीवन का ध्येय उनका अपना 'पिता' रहा है। सरदार को उनकी छाया भी सूर्यास्त के उपरान्त विश्राम के समय छोड़ देती थी, पर मणीबेन का पहरा रहता था चौबीस घंटे। उसकी नज़र सरदार सोते हों या जागते हों, काम करते हों या विश्राम करते हों, हर समय उनपर सजग होकर गड़ी रहती थी और सरदार की हर क्रिया के पीछे प्रच्छन्न रूप से चलती रहती थी। कितनी ही गुप्त मंत्रणा या किसीके साथ निजी मुलाक़ात ही क्यों न हो, मणीबेन मूर्ति की तरह सरदार के निकट सदा प्रस्तुत रहती थी, जैसे वह सरदार का ही अविच्छिन्न अंग हो।

कानून का तक़ाज़ा था कि कैबिनेट-मीटिंग में मंत्री की हैसियत से केवल सरदार ही शरीक़ हों। इसलिए सरदार कैबिनेट के भीतर अकेले जाते और मणीबेन बाहर बैठ जाती थी। सरदार संसद् में जाकर बैठते तो मणीबेन ऊपर गैलरी में जा बैठती। मणीबेन को इसका कोई क्षोभ नहीं था, क्योंकि वह एक तरह से सरदार के पास ही रहती थी। तन न सही, मन तो था ही।

सरदार का नित्य का अभ्यास था कि सुबह शौच-स्नान

के बाद टहलने जायँ। टहलना उनका तेज़ी के साथ होता था। तीन मील सुबह और दो-तीन मील शाम को। घर में भी जब कोई काम न हो तो घूमते ही रहते थे। शायद घूमने से उनके विचारों में चंचलता ज्यादा आ जाती थी। पहाड़ों पर जब जाते तब तो सरदार दोनों बेला पंद्रह-बीस मील का भी चक्कर लगा लेते थे। पर मणीबेन भी इस सब घूम-टहल में अपनी हड्डियों के पिंजर को दौड़ाती हुई साथ ही रहती थी। मुझे आश्चर्य होता था कि इतना कम खानेवाली मणीबेन को बीस मील चलने का यह बल कहाँ से मिलता था! अन्न से नहीं, यह उसके दृढ़ मानस से मिलता था। जो हो, इस दौड़ से सरदार से एक क़दम, सिर्फ़ एक ही क़दम पीछे, मणीबेन को मैं पाता था।

सरदार को जबसे हृदय-रोग का आक्रमण हुआ, तबसे उनका टहलना भी चला गया और साथ ही गया मणीबेन का भी टहलना। अब सरदार ने टहलने के बदले केवल मोटर का घूमना जारी रक्खा। इसके साथ मणीबेन का भी कार्यक्रम बदल गया।

मैं रोज़ सुबह सरदार के साथ घूमने के लिए उनके घर जाता तो सरदार को पाता स्नानघर में स्नान करते और मणीबेन को स्नानघर के दरवाज़े के सामने चर्खा कातते। मणीबेन की एक आँख चरखे पर तो दूसरी आँख रहती थी स्नानघर के दरवाज़े पर। और भीतर से पानी की कलकल की, खाँसने की या खड़ाऊँ की जो भी आवाज़ आती, उन सबके संकेत मणीबेन को याद थे। सरदार की हर गति का उसके पास एक

कोष था, जो उसे कंठाग्र था और जिसके अर्थ केवल वही जानती थी। पानी की एक तरह की आवाज़ के माने थे; सरदार मुँह धो रहे हैं; दूसरी तरह का शब्द हुआ, अब शरीर पर पानी डाल रहे हैं, अब गमछे से शरीर पोंछते हैं, अब धोती पहनते हैं, तो अब खड़ाऊँ की आवाज़ आई और सरदार स्नानघर से निकलेंगे। बस, मणीबेन का चर्खा बन्द, और सरदार की चप्पल स्नानघर के दरवाज़े के सामने जा सजी। स्वयं उठी कि सरदार निकले। "अच्छा, आ गए, चलो;" और चली मणीबेन पीछे-पीछे। चरखे से सूत इतना निकालना कि जिससे निजी और सरदार के सारे कपड़े उसीमें से बन जायँ। इतना काम, फिर भी किसी चीज़ का व्यतिक्रम नहीं। ऐसी ग़जब की रही है मणीबेन!

शारीरिक भोगों का त्याग कइयों ने किया। कइयों के पास भोग की सामग्री ही नहीं थी, फिर भी बिना त्याग किये ही त्यागी कहलाये। पर सरदार ने सचमुच में त्यागा, क्योंकि बैरिस्टरी पास करके उन्होंने संग्रह किया, अंग्रेजी ठाट का जीवनक्रम चलाया, बच्चों को पादरियों के स्कूल में भेजकर विद्यारम्भ कराया, पैसे कमाये और फिर त्यागा और त्यागा तो ऐसा कि फिर मुँह मोड़कर नहीं देखा।

राजसत्ता आई, तो भी उनकी जीवन-शैली में कोई फ़र्क नहीं पड़ा। वही सादा जीवन, वही रहन-सहन, वही खान-पान और वही वेश-भूषा। पर मणीबेन का त्याग तो और भी उत्कृष्ट; क्योंकि सरदार ने तो भोग करके त्यागा, मणीबेन ने तो भोग को छुआ ही नहीं। इसका मणीबेन को ख़याल हो तो अभिमान भी हो, पर न ख़याल है और न अभिमान।

"बीरबल, ला कोई ऐसा नर, पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर।" मणीबेन ऐसी ही 'पीर,' 'बावर्ची,' 'भिश्ती,' 'खर' रही है। घर की देखरेख में बावर्ची कहो या चाकर। सफ़ाई तो घर में ऐसी कि कंचन-सा आँगन। धूल खोजने पर भी न मिले। खर्च कम-से-कम, पर राजाओं-महाराजाओं, राजदूतों और मेहमानों को खिलाने-पिलाने में कोई कंजूसी नहीं।

सरदार के साथ संसद् में जाकर सरदार के व्याख्यान के नोट ले, सरदार की डाक मणीबेन के हाथों से गुज़रे, मुलाक़ात की नोंध भी मणीबेन रक्खे और रात को दिन की सारी डायरी लिखे। ऐसी 'पीर', रात को सरदार को सुलाकर पीछे सोये और उनके उठने के पहले उठे। एक ही शरीर में वह सरदार की पुत्री, चाकर, मंत्री, धोबी और अंगरक्षक रही।

सरदार की अंगरक्षा में मणीबेन ने बहुतों को तंग किया, बहुतों को क्षुब्ध किया। कुछ लोगों को अपमानित भी किया। पर मणीबेन को इसका कोई ख़याल नहीं, क्योंकि उसने अपनी जान में किसीका अपमान किया ही नहीं। उसकी दृष्टि एकांगी रही और वह थी सरदार की रक्षा।

मणीबेन की पितृ-भक्ति यदि मूक थी, तो सरदार का पुत्री-वात्सल्य भी मूक था। दोनों एक-दूसरे की भक्ति और स्नेह को पहचानते थे और इसकी स्वीकारोक्ति दोनों की ही मूक होती थी। पर मणीबेन एक बार बीमार पड़ी तो सरदार की ज़बान का ताला टूट पड़ा—"यह मरी, तो मैं मरा . . ." पर वे तो पहले ही चल दिये।

सरदार जब मृत्यु-शैया पर पड़े तो मणीबेन ने स्पष्ट जान

लिया कि अब उनका अन्त आ गया है। सरदार ने समझ लिया कि अब मृत्यु का द्वार खुल गया है। वे मृत्युशैया पर पड़े गुन-गुनाते रहते थे—"मंगल मंदिर खोलो, दयामय !" पर पिता-पुत्री का वह मौन जारी ही रहा। सरदार ने कभी पुत्री से नहीं कहा, "मैं अब जाऊँगा और तुम्हें यह करना है।" और न मणीबेन ने यह पूछा, "तुम्हारे पीछे से कोई आदेश है क्या ?" दोनों-के-दोनों ईश्वरवादी ठहरे, इसलिए भविष्य भगवान् को सौंपकर निश्चिंत रहा करते थे। मणीबेन अपने कर्तव्य से कभी नहीं घबराईं।

"जिस दिन का मुझे डर था, वह अब आ रहा है"—कहकर उसके कुछ आँसू गिर पड़े। मैंने ढाढस देते हुए कहा, "ऐसा क्यों मानती हो ?" पर मैं तो एक साल से मानता था कि उनका अन्त आ रहा है।

सरदार १९४५ के जाड़े में दिल्ली आये और १९५० के जाड़े में दिल्ली से उन्होंने अन्तिम विदाई ली। दिल्ली छोड़ने के पहले सरदार ने अपने मित्रों से एक-एक करके सबसे आखिरी भेंट की। वे जानते थे कि यह अन्तिम विदा थी, मित्रों से और दिल्ली से भी। मणीबेन भी यह जानती थी। पर उसने अपना धीरज कभी नहीं खोया। "ईश्वर को जो स्वीकार है वही होगा, इसमें घबराने की क्या बात है"—यह कहकर वह सन्तोष कर लेती। विदा के दिन सरदार को पहुँचाने के लिए हवाई अड्डे पर सब मित्र-बांधव आये थे। सरदार अपने प्लेन के दरवाज़े के पास एक कुर्सी पर बैठकर मुस्कराते हुए सबसे नमस्कार करते रहे और विदा लेते रहे। मैं उस समय का

उनका वह चेहरा भूल नहीं सकता। शरीर अत्यन्त दुर्बल और नितान्त अशक्त हो गया था। चेहरा पीला पड़ गया था। पेट में असह्य पीड़ा थी, पर सरदार मन को कड़ा करके कुर्सी पर बैठे-बैठे मख़ौल करते जाते थे। और हँस-हँसकर सबसे अन्तिम विदा ले रहे थे। उनके पास अब कुछ दिन या घंटे बाक़ी थे। मणीबेन उनके पीछे खड़ी उनकी अंग-रक्षा के ध्यान में शान्त-चित्त निमग्न थी। उसको भविष्य की कोई चिन्ता नहीं थी। बम्बई पहुँचकर सरदार केवल तीन दिन ज़िन्दा रहे। 'मंगल मंदिर' के द्वार खुल गए।

पर सरदार के प्राण निकले, तब भी मणीबेन ने अपना विवेक अक्षुण्ण रक्खा। दर्शकों की एक बड़ी भीड़ बिड़ला-हाउस में घुस आई और हर कमरे में आदमी घुस गए। व्यवस्था-प्रिय मणीबेन को यह अव्यवस्था अखरी और सरदार के मृत शरीर को छोड़कर व्यवस्था-स्थापन में लग गईं। जब मित्रों ने कहा, "सरदार का दाह चौपाटी पर होना चाहिए," तो उसने कहा, "मेरी दादी सोनापुर गईं। बम्बई का हर ग़रीब सोनापुर जाता है, मेरा बाप भी और कहाँ जायगा!" फिर भी मित्रों ने आग्रह किया, पर मणीबेन अचल रही। आखिर दाह चौपाटी में न होकर, सोनापुर में ही हुआ।

कथाओं में पिता-भक्त पुत्र मिलते हैं। राम तो थे ही और श्रवणकुमार भी उसी श्रेणी के थे। पति-परायणा सावित्री, सीता और अनेक देवियाँ इस देश में हो गईं। भाइयों में भरत का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। तुलसीदास ने कहा है, "जो न होत जग जनम भरत को, सकल धरम धुर धरनि धरत को?"

किन्तु पिता पर अनन्य निष्ठा रखनेवाली कुमारी मणीबेन जैसी कोई दूसरी नहीं सुनी।

कल्पना भी एक अजीब चीज़ है। सरदार यदि गांधीजी से न मिले होते और अपना साहबी ठाट न छोड़ते तो क्या? मणीबेन भी शायद इंगलैंड में जाकर पढ़ती; और जैसे अन्य सम्पत्तिशाली लोगों की पुत्रियाँ अन्त में शादी करके अपना गृहस्थ-स्थापन करती हैं वैसे ही वह भी करती। पर इससे देश को क्या मिलता! असलियत तो यह है कि :

अधिष्ठानं तथा कर्ता
करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा
दैवं चैवात्र पंचमम्॥
न्याय्यं वा विपरीतं वा
पंचैते तस्य हेतवः॥

अर्थात्––"इस संसार का गाड़ा अकस्मात् चलता है, चाहे उसे दैव कहें या ईश्वर!"

: १२ :

हीरा

वैसे तो मेरे जन्म के क़रीब पैंतीस साल पहले से हीरा हमारे यहाँ नौकर था, पर जब मैं तीन साल का हुआ, तभी से मैं उसे पहचानने लगा। शायद इससे पहले मैं उसे पहचानने लगा होऊँ, पर उसकी आज मुझे कोई स्मृति नहीं है। इस हिसाब से मेरे लिए तो हीरा का जन्म उसी समय हुआ जबकि मैं तीन साल का था, हालाँकि हीरा मुझसे क़रीब बावन वर्ष बड़ा था।

तो हीरा को जब मैंने पहले-पहल जाना, उस समय मुझ-पर उसकी क्या छाप पड़ी, यह बताना मेरे लिए टेढ़ा काम है। पर प्रयत्न करता हूँ तो मुझे फिर एक मर्तबा उस सुदूर और धुंधले अतीत में प्रवेश करना पड़ता है और प्रवेश करने पर मुझे लगता है कि मैं एक ऐसे स्थान में पहुँच गया हूँ, जहाँ चारों ओर केवल कुहरा-ही-कुहरा है। दस क़दम के बाद तो—यदि हम काल को भी क़दम से नापें तो—एक ऐसा प्रगाढ़ पर स्वच्छ और धवल अन्धकार है, जो लाख कोशिश करने पर भी हमारे स्थूल और सूक्ष्म चक्षुओं को बिलकुल अंधे बनाये रखता है। पर यदि हम एक क़दम आगे देखने का प्रयत्न करें तो सिवा धुंधलेपन के और कोई चीज़ सामने—अत्यन्त सामने—खड़ी है, उसे भी—जैसी है वैसी देखने के लिए—आँखें फाड़-

फाड़कर एकटक देखता हूँ तो भी उसकी रूपरेखा स्पष्ट नहीं दिखाई देती। ऐसे उस सुदूर अतीत में दृष्टि बेकार बन जाती है।

पर जो चित्र आँखों पर उस समय खिच गया है वह एक ऐसे फोटो की तरह है जो किसी अनाड़ी चित्रकार ने खींचा हो और जिसे खींचने में न तो उस चित्रकार ने कैमरे की दृष्टि को ठीक एकाग्र किया हो और न रोशनी ही सही दी हो। हम लाख उस चित्र की रूपरेखा दुरुस्त करने की कोशिश करें, पर हमें उसमें कामयाबी नहीं होती। उस अतीत काल की स्मृति की एक ऐसे सपने से भी तुलना की जा सकती है, जो जिस समय आता है, उस समय तो साफ़-सुथरा—सामने मानो नाटक खेला जाता हो और उस नाटक में हम भी अभिनय करते हों—ऐसा लगता है; पर आँखें खुलते ही स्मृति फीकी पड़ने लगती है। और जब हम संसार के कोलाहल और दिन की धक्कामुक्की में फँस जाते हैं तब तो वह चित्र हमारी आँखों से बिलकुल ग़ायब हो जाता है।

बाल्यकाल के कच्चे दिमाग़ पर खिचा हीरा का वह धुंधला-सा चित्र। रूपरेखा सारी अस्पष्ट और ऊपर के समय की रफ़्तार की घिसावट।

समय की रफ्तार तो मानों रात-दिन का अविच्छिन्न प्रपात। रही-सही रूपरेखाओं को और भी मलिन बना दिया। पर हीरा का चित्र तो फिर भी सामने खड़ा ही रहा। और जो चित्र पहले-पहल अस्पष्ट रूप से दिमाग़ के पटल पर पड़ा, वह फिर ज्यों-ज्यों पटल-चित्र आगे चला, स्पष्ट बनता गया।

और बाद के चित्र ने पहले के चित्र की रूप-रेखाओं को स्पष्ट करने में सहायता पहुँचाई। इस तरह हीरा का चित्र सुस्पष्ट बन गया।

मैं बता चुका कि हीरा, जब उसे मैंने पहले-पहल जाना, तबतक बावन साल का हो चुका था और करीब पैंतीस साल हमारे यहाँ नौकरी करते भी उसे हो गए थे। मैंने बाद में सुना कि हीरा के माँ-बाप उसके बचपन में ही मर गए थे और वह बचपन से ही हमारे यहाँ आकर नौकरी करने लगा था। हीरा को अपने बाल्यकाल की कोई स्मृति नहीं थी, पर उसका ख़याल था कि उसके माँ-बाप संवत् १९०० के भयंकर दुर्भिक्ष में बिना अन्न के, भूख के मारे, मर गए थे।

संवत् १९०० और १९०१ ये दोनों साल अत्यन्त भीषण दुर्भिक्ष के थे। सुना है, इन दोनों सालों में राजपूताना में लाखों मनुष्य, बिना रोटी, कुत्ते की मौत मर गए। चूँकि ये दोनों दुर्भिक्ष एक के बाद एक सटे आये, इसलिए लोगों ने इनका नाम 'सैया' और 'भैया' रक्खा। संवत् १९०० के दुर्भिक्ष का नाम पड़ा 'सैया' और संवत् १९०१ के दुर्भिक्ष का नाम 'भैया' पड़ा। इनकी भीषणता का ख़याल दिलाने के लिए लोग आज भी गीतिका "चाकी चाले रे सैया, माणस बोले रे भैया" गाते हैं, अर्थात् सैया और भैया की भीषणता के बाद "चक्की चलती है या तो मनुष्य अब भी बोल रहे हैं।" ऐसा कथन भी आश्चर्यजनक माना गया। हीरा का ख़याल था कि इन्हीं अकालों में उसके माँ-बाप मर गए। और सुना कि हीरा की नौकरी पहले-पहल हमारे यहाँ केवल एक रुपया माहवार थी।

पर जब मैंने उसे जाना तब तो एक रुपया, खाने को रोटी और पहनने को कपड़ा भी मिलने लगा था। शादी तो हीरा ने की ही नहीं। माँ-बाप तो थे ही नहीं। इसलिए हमारे कुटुम्ब को छोड़कर हीरा के लिए और कोई ममत्व का स्थान नहीं रह गया था। हमारे कुटुम्ब को ही उसने आश्रय का स्थान माना और अन्त तक ऐसे ही मानता रहा।

जब मैंने पहले-पहल हीरा को देखा, तब वह साठी के नज़दीक पहुँच रहा था। बाल उसके किरड़काबरे हो चले थे। पर हीरा के मन में बुढ़ापे ने प्रवेश नहीं किया था। उसे अपने व्यक्तित्व का तो अभिमान था ही, उत्साह, उमंग और आशा की भी उसमें कमी नहीं थी।

हमारे यहाँ उस ज़माने में दो ऊँट थे। अकस्मात प्रायः एक ऊँट काले रंग का रहता था और एक सफ़ेद रंग का। काले को हम लोग कालिया ऊँट और सफ़ेद को धोलिया ऊँट कहते थे। हीरा का ऊँटों को प्यार, यह वर्णनातीत वस्तु है। उसकी थाह तो हीरा को ऊँटों की सार-सँभाल करते जिन्होंने देखा है वे ही जानते हैं। पर मैंने यह देखा कि उन दो ऊँटों में हीरा का ममत्व धोलिये पर ज़्यादा रहा करता था। इसका कारण भी था। धोलिया ऊँट और यह भी अकस्मात् तेजस्वी और आकरे स्वभाव का होता था और हीरा को इसका खूब गर्व था; क्योंकि ऐसे ऊँट हर टोले में नहीं जन्मते थे। हीरा का ऊँट और ऊँटों से कुछ भिन्न है, उसकी अपनी अलग शान है, यह प्रकट करने में हीरा कभी नहीं चूकता था। इसलिए वह जब ऊँट पर सवार होता था तो बेतकल्लुफ़ी से

नहीं। शायद उसने माना हो कि ऐसा करना यह धोलिये-जैसे प्रतिष्ठित ऊँट के लिए अपमान होगा। इसलिए ऊँट पर चढ़ने से पहले गाढ़े का पाजामा और नैनसुख की (और अगर जाड़े का मौसम हो तो रुईदार) कमरी, पाँवों में चोबदार जरी की मोचड़ी, एक पाँव में चाँदी का छैलकड़ा और ताँती, कमर में तलवार और बगल में सींगसाज—इन सब चीजों से सिंगर-कर ही हीरा ऊँट पर चढ़ता था। और सींगसाज भी पूरे दुरुस्त। कूँपी में बारूद, बटुए में पटाखा और दूसरे बटुए में शीशे की दस-बीस गोलियाँ। बंदूक भरी, सिर्फ दाग़ने भर की देर। दाढ़ी बीच में फाँटकर, आधी एक कान पर से और आधी दूसरे कान पर से और कान के इर्द-गिर्द अढ़ाई आँटे (यह माप भी हीरा ने बताया था) देकर बाँधी हुई। कानों में सोने की बीरबली और गले में हनुमानजी की मूर्ति की सोने की तख्ती। दाढ़ी पर जाड़िया। सिर पर साफ़ा और साफ़े पर चद्दर का दुमाला मारे हुए।

इस साजबाज के साथ हीरा की शक्ल एक योद्धा की-सी लगनी चाहिए थी। पर अफ़सोस कि हीरा का क़द ठिंगना था, शरीर हलका। इसलिए लाख कोशिश करने पर भी हीरा ज़रा-सा 'माणस' लगता था। और ऊपर से यह दूसरा अफ़सोस कि हीरा राजपूत न था, जाट था। हीरा अपनी जात को बाहर अनजाने लोगों के सामने छिपाता भी था, पर लोग ताड़ जाते थे। इसका हीरा को दुःख था। फिर भी अपनी शान बताने में हीरा को कभी आलस्य नहीं होता था। और इस वेश-भूषा से सजने का भी शायद यही कारण था कि हीरा

अपने गर्व को छिपाना नहीं चाहता था। पर एक बात का हीरा का गर्व बिलकुल सही था—धोलिया-जैसा ऊँट चीखले-भर में ढिंढोरा फेरने से भी मिलना असम्भव था। इसलिए जब हीरा ऊँट पर चढ़ता था, तब वह सातवें आसमान पर पहुँच जाता था।

वैसे तो धोलिया ऊँट हज़ारों में भी नहीं छिप सकता था, पर ऊँट की ख्याति छिपी न रह जाय, इसके लिए हीरा अहर्निश सावधान रहता था। इसलिए जब ऊँट पर चढ़ने का समय आता था तब तो हीरा के लिए सवारी एक असाधारण कृत्य बन जाता था। ऊँट की गोडी बाँधकर जब वह कूँची कसने की तैयारी करता था तो पहले ऊँट का मिजाज गरम करने के लिए वह ऊँट पर दो वेंत ज़ोर से फटकार ही देता था। बस, इतना किया कि ऊँट ने शुरू किया अरड़ाना। यह तो मानों लोगों को इकट्ठा करने का आह्वान था। सटक-सटक काम छोड़-छोड़कर लोग हीरा के इर्द-गिर्द आ जमते थे, क्योंकि हीरा का ऊँट पर चढ़ना यह एक देखने लायक़ दृश्य होता था। ऊँट भी तो लाजवाब था। ऊँट की पीठ पर पान कटे हुए। उसके पहनने को नया मोहरा और बेलचा। उसके गले में कौड़ियों की पट्टी। नाकों में चाँदी की बाली और गिरबाण। कूँची के घड़े बनाती। पागड़े पीतल के, ऊपर लाल मजीठ की खोली चढ़ी हुई। पूँछ बँधी हुई। कूँची पर सफ़ेद स्वच्छ गद्दी। इस शान का ऊँट! और वह शान हीरे की! और ऊपर से यह सजावट!

जब कूँची भाँडी जा चुकती थी तब हीरा ऊँट को ठोकर

मारकर खड़ा करता था। इसपर तो ऊँट और भी उग्र हो उठता था। अरड़ाना तो जोरों के साथ जारी था ही। उधर भींगड़े और तरड़ा फेंकना भी बेतरह शुरू हो जाता था। हो-हल्ला सुनकर गाँव के और भी लड़के आ जमते थे। यह सब क्रिया हो चुकने पर हीरा ऊँट को गाँव के बाहर ले जाकर सवार होता था। एक आदमी ऊँट की गोडी दबाकर हीरा को सवारी करने में सहायता देता था। हीरा सवार हुआ कि ऊँट फलाँग मारकर ज़ोर से उछलता था।

उस समय हीरा का अभिनय तो कमाल का था। एक तरफ़ तो ऊँट को मानो वह किसी ज़िद्दी, अड़ियल, उग्र लड़के को शांत करता हो, इस तरह प्यार से सम्बोधन करता था, दूसरी ओर नकेल खींचकर ऊँट को रोकता था, तो तीसरी ओर ऊँट को छिपी ठोकर मारकर उसे दौड़ने के लिए उकसाता था। इन तीन परस्पर-विरोधी क्रियाओं का ऊँट पर तो एक ही असर पड़ता था। आख़िर ऊँट तो पशु ठहरा, और सो भी गँवार पशु। तो फिर हीरा के दुलार के सम्बोधन को ग्रहण करना उसके मस्तिष्क के बित्ते के बाहर की बात थी। हीरा इसे जानता भी था, पर हीरा की भाषा तो दर्शकों के लिए थी, और ठोकर ऊँट के लिए। मोहरी खींचने का तात्पर्य यह था कि लोग समझें कि ऊँट हीरा के लाख शान्त करने पर उड़ जाना चाहता है और हीरा-जैसा उस्ताद चाबुक-सवार ही इसकी पीठ पर टिक सकता है।

पर इसके माने यह नहीं कि हीरा कोई साधारण सवार था, या उसका ऊँट कोई साधारण ऊँट था, क्योंकि हीरा ने

कई बार सुबह से शाम तक साठ कोस की मंज़िल आसानी से तय की थी।

और जितनी हीरा की चाबुक-सवारी, उतना ही उसका भूगोल का ज्ञान। हीरा दो-चार मर्त्तबा तो पिलानी से अहमदाबाद तक ऊँट पर ही जा चुका था। पर दो बेर जाने-मात्र से तो किसीको रास्ते का पूरा ज्ञान नहीं हो जाता। लेकिन हीरा की यह खूबी थी कि पिलानी से अहमदाबाद पहुंचने में कौन-कौन से गाँव से गुज़रना पड़ता है, यह सब भूगोल सविस्तर पचास साल के बाद भी, उसकी जीभ के अग्रभाग पर जमा पड़ा था। सौ-सवा सौ कोस की परिधि में तो ऐसा कोई शहर या गाँव नहीं, जिसके पहुंचने के रास्ते का ज्ञान हीरा को न हो। "यहाँ से दो कोस पर फलाँ गाँव, उसे बाँये छोड़ देना। फिर फलाँ जोहड़ आजायगा। उसके बाद एक कुँआँ, फिर एक ऊँची भर. . . ." यह हीरा का रास्ता बताने का तरीक़ा था। हीरा जहाँ नहीं गया, वहाँ उसने सुनकर उस स्थान का भूगोल जिह्वाग्र कर लिया था। इसी तरह हीरा बहुश्रुत भी बन गया था।

पर हीरा के दिल में एक तमन्ना थी। उस ज़माने में चोर-धाड़ियों का खूब उपद्रव था। हीरा चाहता था कि कभी उसकी धाड़ियों से मुठभेड़ हो। हीरा का ऊंट तो हवा से बातें करने-वाला था ही। उसकी बन्दूक भी हाज़िर-जवाब। घोड़ा दबाने-भर की देर थी। लोग कहते थे कि हीरा का शरीर चाहे छोटा हो, पर उसकी बंदूक कभी धोखा नहीं देगी। हीरा का दावा यह था कि वह एक चुस्त निशानेबाज़ है। पर उसने निशाने

मारने के लिए एक बड़े घड़े से, जो दो-तीन फुट लम्बा-चौड़ा हो, छोटे निशान का कभी उपयोग नहीं किया, और हीरा निशाना मारने के लिए भी तो दस-पंद्रह क़दम पर ही बैठता था। जब गोली की चोट से घड़ा चूर-चूर हो जाता था तब तो हीरा मुलकता हुआ उठकर सबकी तरफ़ गर्व से ताकता था, मानो कहता हो—"बताओ है कोई ऐसा निशानेबाज़!"

और एक दिन कुछ बंदूकचियों से उसने बाज़ी मार भी ली। हीरा ने अपने साथियों को ललकार दी कि निकाले कोई लोहे के कड़ाहे में से गोली। यह करतब न तो निशाने की अचूकता का द्योतक था, न हीरा की ताक़त का प्रमाण। पर लोगों ने इस चुनौती को झेला। दंगल में हीरा की गोली तो दनदनाती हुई लोहे के कड़ाहे को छेद गई। औरों की गोलियाँ चिपटी होकर कड़ाहे से टकराकर गिर गईं। प्रतिपक्षियों के चेहरे उतर गए। हीरा की छाती फूलकर सवा गज़ चौड़ी हो गई। कहनेवालों ने हीरा के विरुद्ध विश्लेषण करने की कोशिश की, पर इतना तो साबित हो गया कि हीरा की बन्दूक पूरी फ़रमाबरदार है और मौक़े पर काम देगी। हीरा में आत्म-विश्वास की कमी तो थी नहीं। ऊँट और बन्दूक, इन दो के ज़ोर पर हीरा यह मिन्नतें मानता था कि उसे डाकू मिलें; और अन्त में डाकू मिले भी, पर हीरा की हार हुई। लेकिन जिन दो चीज़ों पर हीरा का विश्वास था, उन्होंने दग़ा नहीं दी। गीता में कहा है :

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥

हर काम में क्षेत्र, कर्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न क्रियाएँ और पाँचवाँ दैव, ये पाँच हेतु होते हैं। मालूम होता है कि इन साधनों में से कइयों ने तो हीरा के ख़िलाफ षड्यन्त्र ही कर लिया था कि उसका मान-मर्दन हो।

बात थी भिवानी के रास्ते की। कलकत्ते से एक सज्जन आ रहे थे, जो बीमार थे। उन दिनों पिलानी का रेलवे स्टेशन था भिवानी। ये सज्जन भिवानी उतरनेवाले थे और वहाँ से उन्हें पिलानी आना था। हीरा को भेजा गया उन्हें भिवानी से पिलानी ले आने के लिए। भिवानी ठहरा अंग्रेज़ी इलाक़े में। इसलिए बिना पास कोई हथियार नहीं ले जा सकता था। हीरा ने लाख कोशिश की कि बन्दूक का पास मँगा लिया जाय, पर सब लोगों ने कह दिया—"क्या डर है, ऐसे ही चले जाओ।" बन्दूक हीरा की विश्वस्त संगिनी थी। वह उसे छोड़कर अकेला नहीं जाना चाहता था, पर लाचारी !

हीरा बिना बन्दूक़ के गया सही, पर उसका मन उन्मना था। हीरा ने पीछे बताया कि जब वह सवार होकर भिवानी की ओर चला, तब रास्ते में उसे बिना तिलक-तोंदवाला ब्राह्मण मिला। खुले केशवाली स्त्री, सो भी विधवा, मिली। घड़े वाले के पास घड़ा रीता था। सोनचिड़ी बाँयें आ बैठी, गदहा दाहिने बोला। हरिन दाहिने से बाँईं ओर निकल गया और एक सुनार भी तो मिला। पर कर्तव्यवश हीरा ने इन सबकी अवहेलना की।

हीरा भिवानी पहुंचा और उन सज्जन को सुबह गज़रदम ऊंट पर पिछले आसन पर बैठाकर पिलानी की ओर चला।

हीरा का कहना था कि जब भिवानी से चला तब भी सारे अपशकुन हुए और बाँयाँ अंग भी फड़का। सुबह पौ फटते-फटते हीरा इन्दोखले जोहड़ के पास पहुँचा और उसने देखा कि सात ऊँट, उनपर चौदह जवान, सबके पास बड़े-बड़े लट्ठ, हीरा के ऊँट को चारों ओर से घेर रहे हैं। हीरा ने देख लिया कि दाल में काला है। पर तो भी उसने ललकार कर डाकुओं से कहा, "माई के लालो, मंशा तुम्हारी ख़राब मालूम होती है। क्या बात है?" उन्होंने कहा, "हमारे ऊँट खो गए हैं। उनकी खोजों के पीछे हम आये हैं।" हीरा को विश्वास नहीं हुआ। पिछले आसन पर बैठे सज्जन से हीरा ने कहा, "भरोसा एक ही है, वह है मेरा ऊँट। एड़ मारने-भर की देर है, फिर तो ऊँट उड़ेगा। आप सावधान होकर मेरी पीठ से चिपक जाइये और मैं ऊँट को टिचकारी देता हूँ। इस ऊँट को कोई नहीं पहुँच सकता।" पर पीछेवाले सज्जन ने कहा, "हीरजी, मैं इतना बीमार हूँ कि ऊँट ने ज़रा भी तेज़ी दिखाई कि मैं धम से नीचे गिरूँगा। इसलिए मेरे प्राण जायँ, इससे तो बेहतर है कि हम लुट जायँ।"

हीरा ने देख लिया कि बस होनहार बलवान है। उसने अपना लट्ठ सँभाला। ऊँट परसे कूदा और ललकारा डाकुओं को ही। हीरा का बित्ता ही क्या था! छोटा-सा शरीर। उसने लाठी का वार किया, एक-दो लाठी चलाई भी, पर दो-एक लट्ठ हीरा के सिर पर लगे कि हीरा ज़मींदोज़ हो गया। डाकू ऊँट ले गए।

हीरा के सदमे का क्या ठिकाना! बन्दूक पीछे रह गई। ऊँट धाड़ी ले गए।

जबतक हीरा ज़िन्दा रहा, तबतक इस रासे को वीर और करुण में वर्णन करता ही रहा। इस कथा को कहते-कहते हीरा रो भी देता था। पर वह कभी थकता न था। क्या तमन्ना थी और कैसा हुआ अन्त! हीरा का दिल टूक-टूक हो गया। हीरा फिर भी ऊँटों पर चढ़ा, बन्दूक भी लटकाई, पर उसका दिल तो टूट चुका था। लोग भी तो ताना मारने से कहाँ बाज़ आते थे, पर हीरा को रह-रहकर पछतावा होता था "मैंने बन्दूक साथ क्यों न ली? मैंने ऊँट को टिचकारी क्यों न दी?"

इसके बाद हीरा कुछ ही साल और ऊँट पर चढ़ा। वैसे भी साठी पार कर चुका था, और ऊपर से प्रतिष्ठा का भंग। इस घटना के बाद भी ऊँटों पर कई बार भिवानी गया-आया, पर उदासी के साथ। जब-जब वह इन्दोखले जोहड़े में से निकलता था तो अपना बखान करते-करते वह रो देता था। वह लाख लोगों को समझाये, पर हीरा ने शिकस्त खाई, इस कथन को कौन मेट सकता था! हीरा कवि न था, पर इन्दोखले जोहड़े की तरफ़ मुँह करते ही उसका दिल कह देता था:

> मत नाव उधर लेजा माँझी, उस घाट को मैं पहचानता हूँ।
> फूँकी थी मैंने वहीं पर चिता, अपनी मरहूम तमन्ना की॥

हीरा ने समझ लिया कि अब ऊँटों की सवारी में कोई लुत्फ़ नहीं; और हीरा ऐसा आदमी भी नहीं जो अपने क्षेत्र में स्वल्प श्रेष्ठ होकर रहे। वह तो था गर्वीला। सर्वश्रेष्ठ होकर ही रहना चाहता था। "अबतक तो जिस ज़मीं पै रहे आसमाँ रहे।" इसलिए हीरा ने अब अपना क्षेत्र बदलना

निश्चय किया। धीरे-धीरे उसने ऊँटों का ममत्व और ज़िम्मा छोड़ दिया। एक रोज़ अचानक देखा गया कि हीरा ने दाढ़ी और पट्टे दोनों सफ़ा करवा डाले। धीरे-धीरे उसने योद्धा का स्वाँग छोड़ना शुरू कर दिया।

हीरा था बड़ा मितव्ययी। साठी पार करने तक तो उसके पास पाँच सौ की पूँजी जुट गई थी। एक रुपया माहवार की आमद पर भी वह पूँजीपति बन गया था। पर हीरा दिल का भी तो शाही था। इसलिए अब उसने अपना ख़जाना खाली करने का प्रण कर लिया। कान की बीरबली और पाँवों के चाँदी के कड़ों से उसने दान का श्रीगणेश किया। फिर तो धीरे-धीरे अपनी और पूँजी भी लुटाने लगा और अन्त में उसने अपना सारा कोष खाली कर दिया। पर इस बीच में तो हीरा की नौकरी एक रुपया माहवार से दो रुपया माहवार हो गई और इनाम भी समय-समय पर मिलता था। इसलिए हीरा फिर पूँजीपति बनने लगा। पर हीरा की तमन्ना अब केवल एक ही थी। वह थी कर्ण-सा दानी बनने की। हीरा की व्यवस्था और मितव्ययिता इस आला दरजे की थी कि उसके पास पचास साल पहले के अपने कपड़े, कम्बल, चद्दर, अँगरखी, इनाम में पाया हुआ शाल, हाथों की सोने की चूड़——ये सब चीज़ें ज्यों-की-त्यों मौजूद थीं। पचास साल पहले के दो-एक बेंत भी ज्यों-के-त्यों सुरक्षित थे।

हीरा के रहने की एक कोठरी थी, जिसे हम हीरा की कोठरी कहते थे। उस कोठरी की लम्बाई छः फुट, चौड़ाई तीन फुट और ऊँचाई छः फुट थी। जगह का अभाव न था,

पर हीरा ने इसी कोठरी को अपना स्थायी स्थान बनाया और यह कोठरी क्या थी, गागर में सागर था। व्यवस्था का एक जीता-जागता चित्र। इस कोठरी में खूंटियों पर बाक़ायदा हीरा के हथियार लटकते रहते थे। एक खटिया थी। उसके नीचे हीरा के तमाम कपड़े, तमाम पोशाकें थीं। न मालूम और कितना सामान था। हीरा ने अब धीरे-धीरे अपनी सारी चीज़ों का भी दान करना शुरू कर दिया था, और एक-एक करके हीरा ने अपनी तमाम बुगची में से सब कपड़ों को वितरित कर दिया। सोने की तख्ती भी दान में दे डाली। अब हीरा के पास पहनने-भर के कपड़े रह गए।

इतना हुआ, पर हीरा की सजावट में कोई फ़र्क नहीं आया। पहले योद्धा का स्वाँग सजता था और अब साधारण नागरिक का। पर वही पुरानी स्वच्छता, वही दिन में दो बार नहाना, वही दो बार कपड़े बदलना। कपड़े धोने की कला तो हीरा को हस्तामलकवत् थी। इसलिए सफ़ाई में हीरा से कोई बाज़ी मार ही नहीं सकता था। धुलाई में उसकी शोहरत यहाँ तक फैल गई थी कि जब कोई बेशक़ीमती शाल धुलवाना होता तो वह हीरा के सुपुर्द किया जाता।

तो हीरा ने फिर दूसरी बार कोष खाली करना शुरू किया, और अन्त में सबकुछ दे ही तो डाला।

बुढ़ापा तो आता ही जाता था। अब तो हीरा ने सत्तर पार कर लिया था। आँखों की ज्योति कम हो चली थी। हीरा ने अब माला हाथ में लेली। पर शाम को जब टहलने निकलता था तब कुछ तो सजावट रहती थी, हाथ में माला

और बेंत भी रहते थे। कन्धे पर एक स्वच्छ गमछा। दूसरे कन्धे पर गर्मियों में धुली हुई कमरी पड़ी रहती थी और यह बताती थी कि हीरा के पास कमरी है, पर गर्मी की वजह से वह उसे पहनता नहीं है।

हीरा की पूँजी फिर बढ़ने लगी और दान भी बढ़ने लगा। दिन बीतते जा रहे थे। अब हीरा अस्सी पार कर गया। शक्ति धीरे-धीरे घटती जा रही थी।

उन दिनों की जब मैं याद करता हूँ तो हीरा का एक ही चित्र मेरी आँखों के सामने आता है। स्वच्छ कपड़े पहने, हाथ में माला लिये, हीरा हवेली के गोखे पर बैठा है और 'राम-राम' कर रहा है। हीरा का अब किसी चीज़ में ममत्व नहीं रहा। पर इन्दोखले जोहड़े की धाड़ को हीरा भूल नहीं सका। और न भूला वह धोलिये ऊँट को। यदि कोई इसकी चर्चा कर देता था तो हीरा एक बेर माला को ताक पर रखकर उस पुराने रासे को रस के साथ वर्णन करते-करते उसमें तल्लीन हो जाता था। पर इस चर्चा को छोड़ उसे और किसी चीज़ में ममत्व नहीं रहा, और माला तो उसकी दिन-रात चलती ही रहती थी। अब हीरा ने देख लिया कि अन्त आगया। ऊँटों की कई यात्राएँ हीरा ने की थीं। अब उसकी जीवन-यात्रा का भी अन्त हो चला था, ऐसा जानने में हीरा को कोई कठिनाई नहीं हुई। चौरासी साल तक हीरा ने अपने भौतिक शरीर में वास किया। एक दिन हीरा ने अपना जीवित श्राद्ध करके फिर तीसरी बार अपना कोष खाली कर दिया और उसके कुछ ही दिन बाद चल बसा।

क्या शान की ज़िंदगी हीरा ने बसर की। हीरा का न कोई रासा है, न कोई महाभारत है, पर हीरा का शौर्य किस वीर से कम रहा! अभिमन्यु की शोहरत इसलिए फैली कि वह अकेला व्यूह में घुस गया और वीरोचित मृत्यु का उसने आलिंगन किया। पर हीरा भी तो अकेला चौदह से लड़ा। यदि जीता नहीं तो उसमें हीरा का क्या दोष!

और दान भी तो कर्ण से क्यों कम! कर्ण का महाभारत में बड़ा स्थान है। और हीरा का कोई ग्रन्थ नहीं बना, इसी बुनियाद में हीरा परख में कम नहीं उतर सका। तीन बार हीरा ने अपना ख़जाना खाली कर दिया। यह उदारता कर्ण से किस बात में कम उतरती थी? और हीरा की वफ़ादारी तो लाजवाब। बड़े-बड़े श्लोकों से भरे ग्रन्थों से चौंधिया जाने से यदि हम इन्कार करें तो मैं कहूँगा कि हीरा का शौर्य, उसकी दान-शूरता और उसकी वफ़ादारी बेमिसाल चीज़ें हैं।

हीरा मर गया। उसकी छोटी-सी स्मृति हरपाणे जोहड़े में एक कुई और एक कोठरी के रूप में आज भी खड़ी है। बड़े-बड़े स्मारकों के सामने यह तुच्छ यादगार नाचीज़ है; पर इसके पीछे जो शान है, उसकी भी तो कोई वक़त है! यदि इस यादगार में ज़िंदा ज़बान होती तो वह कह उठती:

> **यहाँ सोता है एक तुच्छ प्राणी,**
> **जिसका शरीर था रूपे का,**
> **जिसका सिर था सोने का,**
> **और जिसका दिल था हीरे का।**

जनवरी, १९४१

: १३ :

नाहरसिंह

नाहरसिंह एक छैल-छबीला राजपूत था। जवानी की उमंग में जब वह बन-ठनकर दुपहरिया की चहल-क़दमी करने गाँव की गलियों से गुजरता, तो वह समझता था कि उसके जैसा और कोई बाँका जवान दुनिया छानने पर भी मिलना दुर्लभ है। हालाँकि नाहरसिंह खूबसूरती से कोसों दूर था, बल्कि यह कहना चाहिए कि कुछ बदसूरती की तरफ ही लुढ़क थी, पर उसे इतना गर्व था कि वह अपने-आपको बेनज़ीर मानता था।

खूबसूरती की उसमें जो कमी थी, उसे वह सजावट के ढक्कन से ढाँक कर पूरा करने की कोशिश करता रहता था। खासी सफेद दो छिरंगेदार धोती, कलीदार कोट, सिर पर साँगानेरी साफा, पाँव में बूँटेदार चोबकारी का जूता, हाथ में एक अच्छी-सी बरछी, कंधे पर साँग। इस सजावट के साथ नाहरसिंह दुपहरी में चमचमाते हुए नये जूतों में गलियों में अपनी शान और सजावट का प्रदर्शन करते हुए जब टहलने निकलता तो मानो कहता था—**'कोऽन्योस्ति सदृशो मया?'**

उस जमाने के निकम्मे आवारों का यही क्रम था कि सुबह को खाकर सो जाना और दुपहर में उठकर चहलक़दमी के लिए निकल पड़ना। यह कहना चाहिए कि ऐसे ठलुओं

की सुबह दुपहरी के बाद ही शुरू होती थी। नाहरसिंह भी उन्हीं आवारों में से एक था।

नाहरसिंह दाढ़ी रखता था। सवेरे खा-पीकर दाढ़ी पर जाडिया और मूँछ-पाटी कसकर खटिया पर सो रहता और दिन-ढले जाडिया खोलता था। जब जाडिया खोलता तो दाढ़ी के बाल नियमबद्ध चारों ओर बिखर कर इस तरह खिलाव खाते थे, मानो देवदार की पैनी और दृढ़ पत्तियां अपनी नोकों द्वारा चारों ओर मुँह फैलाकर दिग्दर्शन करती हों।

वह खिली हुई दाढ़ी, वह सजावट और वह कुरूपता, इस सामग्री को लेकर जब नाहरसिंह ज़मीन पर क़दम रखता था तो शायद कहता था--"धरती परे सरक जा, छैला पाँव धरेगा।"

नाहरसिंह से लोग डरते भी थे, क्योंकि वह शस्त्र-सुसज्जित, ग़ैरज़िम्मेदार और हर समय झगड़ने पर उतारू रहता था।

नाहरसिंह अविवाहित था और जैसा कि ऐसे आवारा लोगों का क्रम होता है, उसकी एक विधवा से लाग-फाँस हो गई। गाँव के लोग इस बात से नावाक़िफ़ नहीं थे। विधवा के कुनबे के लोगों को भी इस लगावट का ज्ञान था, पर किसकी हिम्मत कि नाहरसिंह से कोई झगड़ा मोल ले!

क़ुदरत का नियम है कि क्रिया होती है तो प्रतिक्रिया भी होती है। इस नियम का कोई अपवाद नहीं होता। जहाँ एक गुंडा होता है, वहाँ उसकी प्रतिद्वंद्विता में और गुंडे भी पैदा हो जाते हैं। इस न्याय के परिणामस्वरूप नाहरसिंह की प्रतिद्वंद्विता में एक और बाँका जवान निकल आया, और वह

था एक मुसलमान। उसका नाम था मोहम्मद खाँ। वह भी उसी विधवा के घर पहुँचता था। नाहरसिंह को और उस विधवा के रिश्तेदारों को उस मियाँ का आना-जाना काफी अखरता था। रिश्तेदारों की हिम्मत नहीं पड़ी कि कुछ बोलें, इसलिए आँख-मिचौवल किये बैठे रहे, पर नाहरसिंह को मोहम्मद खाँ का यह खाका सहन नहीं हुआ। इसलिए उसने उसे चुनौती दी कि वह उसके सुरक्षित क्षेत्र से दूर रहे, वरना उसे भुगतना पड़ेगा। पर मियाँ को भी अपने बाजू और सीने पर भरोसा था। वह हटा नहीं। उसने नाहरसिंह को दुत्कार बताई और अपना क्रम जारी रक्खा। नाहरसिंह आग-बबूला हो उठा। अन्त में नाहरसिंह और उस रिश्तेदार ने मिलकर मोहम्मद खाँ की नाक काटने की योजना रची।

कई दिनों तक वे लोग इसी टोह में रहे कि मौक़ा मिले तो नाक पर चाकू की आज़माइश हो, और अन्त में मौक़ा मिल ही गया। एक रात को जब मोहम्मद खाँ उस विधवा के घर से निकलकर अपने घर जा रहा था, इन लोगों ने एक सुनसान जगह पर उसे घेर लिया और धर पटका ज़मीन पर। एक ने उसके पाँव पकड़े और नाहरसिंह उसकी छाती पर बैठकर लगा नाक काटने का प्रयत्न करने। पर चाकू भी उनको मिला तो ऐसा कि बिलकुल भूठा। लाख प्रयत्न करने पर भी नाक पर घाव नहीं मार सका। चिल्लाहट हुई, पर रात का समय और सुनसान जगह, इसलिए किसीने सुनी तो भी अनसुनी कर दी। इसी खींचातानी में मियाँ साहब का गला मर्यादा से कुछ ज़्यादा दब गया और किस्सा समाप्त

हुआ किसी और ही दिशा में। चाहा था नाक नदारद करना, सो तो दारद रही, और बदले में जान नदारद !

नाहरसिंह और उसका साथी दोनों धारणा के विपरीत परिणाम देखकर सन्न हो गए। कुछ देर दोनों झगड़ते रहे कि किसकी ग़लती हुई, अन्त में नाहरसिंह ने सफ़ाई दी कि चाकू झूठा था, इसलिए गला दबाना ज़रूरी समझा गया। जो परिणाम हुआ, वह बेबसी के कारण। दोनों ने अपने-आप को लाचार माना।

जब नाहरसिंह और उसके साथी ने देखा कि नाक तो रह गई और शिकार खत्म हो गया तो सवाल यह पैदा हुआ कि अब करना क्या ? कुछ अपने जानी दोस्तों से सलाह भी की। अन्त में कुछ योजना सोची गई और मुर्दे को उठाकर वे उसके घर पर चुपचाप खटिया पर सुला आए और सुबह क्या जाल गूँथना, उसका विचार करने लगे।

सुबह हुई। गाँव में शोर मचा कि फलाँ मियाँ अचानक मर गए। आसपास के पड़ौसी क़िलेदार और थानेदार उसके घर पहुँचे। किसीको पता नहीं कि हुआ क्या। एक हट्टा-कट्टा जवान, जो कल तक मूँछों पर मूँछ-पट्टी चढ़ाये फिरता था, आज यकायक अल्लाताला के घर कैसे पहुँच गया !

गाँव के ठाकुर का प्रतिनिधि क़िलेदार कहलाता था। उसका मुक़ाम भी पिलानी के गढ़ में था। क़िलेदार राजपूत था और उसे नाहरसिंह की करतूत का पूरा पता था। पर वह अपने जात-भाई को बचाना चाहता था। इसलिए उसने कुछ तिकड़मबाज़ी रची। क़िलेदार ने थानेदार को अपना

अनुभव प्रमाण में बताकर यह समझाया कि मियाँ को पाटडा गोह ने काट खाया और उस गोह के विष से वह मर गया है।

उस ज़माने के लोगों का ज्ञान इतना अधूरा और बेसिर-पैर का था कि सभी लोग यह मानते थे कि गोह एक विषैला जीव होता है, यद्यपि अब तो लोगों को पता चल गया है कि गोह महज़ एक छिपकली की जाति है और विषैली नहीं है; लेकिन क़िलेदार की अक़्ल और उसका अनुभव, यह भी तो एक वज़नी चीज़ थी, जिससे गोह के पक्ष में पल्ला और भी झुक गया। सब ने हाँ-में-हाँ मिलाई। कुछ उत्साही खुशामदियों ने गोह के बिल का भी पता बता दिया। खोजी ने खोज निकालकर, गोह किधर से आई और किधर गई, उसका भी सारा क़िस्सा बताकर अपने इल्म की नुमाइश कर दी। गाँव के मूर्खों ने भी मतीरा-सा सिर हिलाकर कह दिया, "हाँ साहब, गोह ने काटा है।" गोह के विष से मृत्यु साबित हुई और मियाँ को क़ब्र के सुपुर्द किया। इस तरह खून का किस्सा एक बार तो समाप्त हुआ।

इसमें नाहरसिंह की कमबख्ती यह हुई कि मृतक मुसलमान था। हिन्दू होता तो जलाकर प्राण के साथ शरीर भी ख़तम हो गया होता, पर मुसलमान होने की वजह से प्राण तो गये, पर शरीर बाक़ी रह गया था। वह शरीर मृतक भी क्यों न हो, खून का साक्षी तो था ही। इसी साक्षी ने नाहरसिंह की बरबादी की।

मैं उन दिनों पचीस वर्ष का था। मुझे पता लग गया कि यह मियाँ का खून हुआ है, जो जान-बूझकर दबा दिया

गया है। नाहरसिंह के चरित्र और उसके आवारापन से भी मुझे नफ़रत थी। गाँव में उसकी और भी कई शिकायतें थीं। इसलिए एक खूनी इस तरह बेदाग़ बच निकले, यह मुझे अखरा। खून के बाद भी नाहरसिंह की चहलकदमी उसी क्रम से जारी थी। "वही रफ्तार बेढंगी जो पहले थी सो अब भी थी"—यह नाहरसिंह का हाल था।

थानेदार निरा बुद्धू था और क़िलेदार शिवनाथसिंह ने उसे और भी उल्लू बना दिया। पर उसके नीचे मुंशी बनवारीलाल था। वह था बड़ा चलतापुर्जा। मुंशी बनवारीलाल की जब-जब तरक्क़ी की बात चली और जयपुर-सरकार ने उसे बड़े ओहदे पर भेजने का प्रस्ताव किया, तब वह यह कहकर इन्कार कर गया कि—"मुझे इसी ओहदे से संतोष है। मुंशीगीरी से विश्राम पाने पर मैं काशीवास करूँगा और भजन-स्मरण में ही जीवन व्यतीत करूँगा।" मुंशी बनवारीलाल का दावा था कि वह एक सिद्धान्त का आदमी था। वह मानता था कि वह रिश्वत ज़रूर लेता है, पर जुर्म करनेवाले से नहीं। रिश्वत लेता था भुगतनेवाले से, और रिश्वत लेकर न्याय करता था, अर्थात् सजा पाने-योग्य को सज़ा और रक्षा-योग्य को रक्षा दिलाता था।

मुझसे कहा करता था, "बाबूसाहब, मैंने रिश्वत ज़रूर ली, पर भले का पक्ष करके। रिश्वत भी मैं उसूलन लेता हूँ।"

लोग चाहे इस उसूल पर हँसें, पर बनवारीलाल को पूर्ण श्रद्धा थी कि इस काम में ईश्वर भी उससे सहमत है।

इस तरह रिश्वत लेकर उसने बीस-तीस हजार इकट्ठे कर लिये थे। पर उसने अपनी बात निबाही। मरने से पहले उसने अपनी सारी सम्पत्ति दान-पुण्य में खर्च करने के लिए ट्रस्ट को सौंप दी और मुझे ही एकमात्र ट्रस्टी बनाकर चल बसा। ट्रस्ट का मज़मून भी उसने अपने-आप ही लिखा था। उस मज़मून का आरम्भ इस तरह था—"ज़िन्दगी का भरोसा नहीं और ज़माना नाजुक है, इसलिए लिख दिया है मैंने यह वसीयत....।" यह 'नाजुक' ज़माने की दुहाई देने की परिपाटी सदा से रही है, जो आज भी प्रचलित है। ज़माना कब नाजुक नहीं था, यह मैंने अबतक किसी से नहीं सुना। अब भी बनवारीलाल के ट्रस्ट से पिलानी में छात्र-वृत्ति दी जाती है। खैर, यह तो विषयांतर हुआ।

पर बनवारीलाल, जैसा कि मैंने कहा है, था बड़ा चलता-पुर्जा। इसलिए थानेदार की अवहेलना करके मैंने उसे बुलाया और बताया कि मियाँ का खून हुआ है और यह सारी कार्रवाई बनावटी है। सज़ायाफ़्ता को सज़ा न मिले तो फिर गुंडेपन का कोई अन्त नहीं। मुंशी ने कहा—"बात सच है। मैं रज़ा-मंद हूँ। पर बाक़ायदा 'रपट' जबतक नहीं आती, तबतक मैं लाचार हूँ।" 'बाक़ायदा' यह भी एक सरकारी वेद समझना चाहिए। और 'रपट' का महत्त्व भी नहीं भूलना चाहिए। इसलिए 'रपट' का इन्तज़ाम करना पड़ा। 'रपट' होते ही मुंशीजी की चक्की चलने लगी। क़ब्र खोदकर मियाँ की लाश को बाहर निकाला गया, डाक्टर बुलाया गया और मुर्दे का पोस्ट-मोर्टम हुआ। पोस्ट-मोर्टम में साबित हुआ कि मियाँ

गला घोंटकर मारा गया था। बस, ख़ून साबित होते ही गिरफ्तारियाँ शुरू हुईं।

उस ज़माने में क़ैदी को हवालात में बन्द नहीं करते थे, बल्कि काठ में दे देते थे। हवालात-जैसी फिजूलखर्ची से लोगों को और सरकार को बड़ी नफ़रत थी। इसलिए हवालात के स्थान पर काठ की संस्था प्रचलित थी। हवालात यह सनकी सरकार की सनक की निशानी मानी जाती थी। एक बड़ा लक्कड़ होता था, जिसके ऊपर-नीचे के दो पाट होते थे और बीच में पाँव डालने के कई छेद। उन छेदों में दोनों पाँव डालकर लक्कड़ का ऊपरी सिरा ताले से बन्द कर दिया जाता था, जिससे कैदी के दोनों पाँव उन छेदों में इस तरह जकड़बन्द हो जाते थे कि क़ैदी भाग न सके। एक-एक काठ में पाँच-पाँच आदमी तक जकड़ दिए जाते थे। न ज़रूरत रहती थी हवालात की और न वेड़ी की।

जितने आदमियों को पकड़ा, उन सबको खुले मैदान में पड़े हुए काठ में डाल दिया गया। यह तरीक़ा बड़ा क्रूर था, पर उस ज़माने का यही सनातन धर्म था। इसकी क्रूरता का तो किसीको ख़याल ही नहीं होता था। क़ैदी खुले मैदान में काठ में पड़ा रहता था। घरवालों और मिलने-भिटनेवालों को कोई मुमानियत नहीं थी। सारी चीज़ सीधी-सादी, कम खर्चीली प्रतीत होती थी। इसमें कोई ऐब है, ऐसा किसीने नहीं बताया, और जिसने बताया उसको ही ऐबी माना गया।

उस समय की प्रथा के अनुसार नाहरसिंह के दोनों पाँव काठ में डाल दिये गए। काठ में जकड़बन्द नाहरसिंह को

उसके घरवाले रोटी खिला जाते थे। चिलम-तम्बाकू की आवभगत भी होती थी, जिसमें पुलिस और क़ैदी दोनों शरीक होते थे। गपशप तो चलती ही रहती थी। पर तो भी आख़िर काठ तो काठ ही है। नाहरसिंह तीन रात और दिन लगातार काठ में पड़ा रहा। खाना भी उसको जब दिया जाता, तब पाँव काठ में ही रहते थे। पाख़ाना जाने के लिए ही छुट्टी मिलती थी। ज़ाहिर है कि ऐसी वेदना कड़े-से-कड़े दिल को भी हिला देती है।

नाहरसिंह का भी यही हाल हुआ। नाहरसिंह ने सोचा, आखिर क़ैदखाने में इससे ज्यादा और क्या परेशानी हो सकती है। फिर क़ैद को ही दावत क्यों न दी जाय!

जब यह कष्ट असह्य हो चला तब अन्त में नाहरसिंह की मर्दानगी भी काफ़ूर हुई। दो-चार थप्पड़ भी पड़े और थप्पड़ पड़ते ही नाहरसिंह ने सारा क़िस्सा स्वीकार कर लिया। अदालत में मुक़दमा चला। उन दिनों की अदालत में 'सेशन' और 'जूरी' का झमेला नहीं था। 'नाज़िम' अपनी बुद्धि से मुक़दमे को समझ लेता था। गद्दी और मसनद के सहारे बैठकर इजलास होता था और नाज़िम अपना फैसला सुनाता था। नाहरसिंह का मुक़दमा भी इसी क्रम से हुआ। अन्त में नाज़िम ने फैसला दिया और नाहरसिंह को जनम-क़ैद की सज़ा सुना दी गई।

जबतक हमें स्वतंत्रता नहीं मिली, तबतक जयपुर में फाँसी की सम्पूर्ण रोक थी। चाहे कितना ही बड़ा जुर्म क्यों न हो, किसी भी जुर्मी को तबतक फाँसी नहीं हुई। इसलिए

नाहरसिंह को भी जनम-क़ैद की ही सज़ा हुई। सज़ा होते ही उसे वहाँ से चालान करके जयपुर की जेल में जनम-क़ैद भुगतने के लिए भेज दिया गया।

जेल में पहुँचते ही नाहरसिंह की दाढ़ी-मूँछ मूँड़ दी गई और क़ैदी के कपड़े दे दिये गए।

नाहरसिंह ने स्तब्ध होकर नये भेष को धारण तो किया, पर उसे विश्वास नहीं हुआ कि वह नई दुनिया में आ गया है। नाहरसिंह रो पड़ा। अपनी पुरानी जीवनी की याद उसे सताने लगी—"कहाँ वह मेरा बाँकापन, कहाँ मेरी दाढ़ी, कहाँ मेरा जाडिया और कहाँ यह मुंडन और यह नया भेष और ऊपर से पाँव में बेड़ी!"

कुछ दिनों तक तो नाहरसिंह पागल-सा हो बैठा। भीतर-ही-भीतर आग धधकती थी। मुंशी बनवारीलाल ने आश्वासन दिया था—"गुनाह मंजूर कर लो, फिर सब तरह से तुम्हारी मदद करूँगा।" उसने धोखा दिया। मदद के बजाय यह जनम-क़ैद करवा दी। पर अब कोई सुननेवाला भी नहीं। जरा चीं-चपड़ करो तो मार पड़ती है। भीतर आग को बुझाने के लिए पानी था, वह भी आँसू होकर बह गया, इसलिए आग धधकती ही रही।

नाहरसिंह का रोना जारी रहा। वह शायर तो नहीं था, पर उसकी आहें शायरी का स्रोत बन कर बहने लगीं—

आता है याद मुझको
गुज़रा हुआ जमाना।

जब से चमन छुटा है
यह हाल हो गया है।
दिल ग़म को खा रहा है
ग़म दिल को खा रहा है।
आजाद मुझको कर दे
ओ क़ैदखाने वाले।
मैं बेज़बाँ हूँ क़ैदी
तू छोड़कर दुआ ले।

पर आज़ाद कौन करे! नाहरसिंह जब रो-रोकर थक गया तो उसका उद्वेग शिथिल हो चला। ग़म दिल को खा गया और दिल ग़म को खा गया। ज़बाँ बेज़बाँ हुई। अब रोना बन्द हुआ।

क़ैद के आश्रय से पहले मन मारकर, फिर धीरे-धीरे सहिष्णु होकर, समन्वय करने लगा। पिछले ज़माने को भूलने लगा। "सबका चहचहाना" और चिड़ियों का चहचहाना यहाँ भी था। उसीसे गाँठ बाँधी।

जब नाहरसिंह जेल में कुछ शांत हुआ तो मैं उससे मिलने गया। मैंने कहा—"नाहरसिंह, आखिर तुमने एक प्राणी की हत्या की है, अब तुम्हें सज़ा भुगतनी है। उसे रो-रोकर क्यों भुगतते हो? खुशी-खुशी क्यों न भुगतो! बहादुरी इसीमें है कि ईश्वर ने जो भेजा, उसे सिर चढ़ाकर मंजूर करो। यहाँ भुगत लोगे तो आगे की छुट्टी है।" नाहरसिंह को शांति मिली, और जेल के जीवन से मैत्री करने लग गया।

जेल के सुपरिंटेंडेंट मेरे मित्र होते थे। मैंने उनसे बात करके नाहरसिंह को कुछ सुविधाएँ भी दिलवा दीं। जेलर

की सिफारिश से नाहरसिंह को गलीचे बुनने का काम सिखाया जाने लगा। नाहरसिंह उद्योग में कुशल निकला और जल्दी ही वह गलीचा बुनना सीख गया। इसके अलावा और भी दो-चार हस्त-कौशल के उद्योग उसने सीख लिये। नाहरसिंह दक्ष हो गया और इस लायक़ बन गया कि वह जेल के बाहर आकर अच्छी तरह अपनी जीवन-यात्रा सँभाल सके। मगर नाहरसिंह था पूरा उपद्रवी।

कुछ काल के बाद जेल के एक वार्डन से झगड़ा करके उसकी नाक को वह दाँतों से चबा गया। सम्भव है, मनोवैज्ञानिकों की कल्पना के अनुसार नाहरसिंह का नाकों से कोई नाता रहा हो, या फिर कोई ग्रह ऐसा पड़ा हो, जो नाहरसिंह को नाकों की ओर आकर्षित करता रहा हो। पर वार्डन की नाक की घटना ने इतना तो प्रमाणित कर दिया कि नाहरसिंह नाक ढूँढ़ता फिरता था। मियाँ की नाक न सही तो वार्डन की ही सही। नतीजा यह हुआ कि नाक चबा जाने के अपराध में उसकी जेल की मियाद बढ़ गई। पर नाहरसिंह की औद्योगिक शिक्षा तो जारी थी ही। इस तरह साढ़े बीस साल तक नाहरसिंह जेल में रहा और जब जेल से बाहर निकला तो सौम्य होकर, कई उद्योगों में कुशल होकर ही निकला।

जबतक जेल में रहा, नाहरसिंह से मेरा सम्पर्क जारी था। इसलिए जेल से निकलते ही वह मेरे पास आया। फटे कपड़े पहने था, पाँव में बीस साल तक बेड़ियाँ पड़ी रहने की वजह से क़दम छोटे हो गए थे और दाढ़ी भी नदारद थी।

नियंत्रण के आने के कारण उसका पुराना औद्धत्य चला गया था और वह विनम्र हो गया था।

मैंने पूछा, "कहो नाहरसिंह, कैसे हो? अब क्या करना है? कमाकर तो खाना ही है, फिर सोच लो, क्या करोगे?"

नाहरसिंह ने कहा, "बाबूजी, मैं बीस साल तक महाराज माधोसिंहजी का मेहमान रहकर आया हूँ, अब किसी छोटे-मोटे का मेहमान नहीं रह सकता। हाथी पर चढ़कर गदहे पर कैसे बैठूं?" उन दिनों जयपुर के महाराजा माधोसिंहजी थे। मुझे उसकी चुटकी पर हँसी आई। नाहरसिंह की ओर मेरा आकर्षण तो था ही। इसलिए मैंने उसे अपनी शिल्पशाला में विद्यार्थियों को गलीचा बुनना सिखाने के लिए मास्टरी के पद पर तैनात कर दिया। नाहरसिंह ने अच्छे-अच्छे गलीचे बनवाये और कई लड़कों को कारीगर बनाकर कमाने-खाने लायक बना दिया।

धीरे-धीरे अब नाहरसिंह पर बुढ़ापा सवार होने लगा। आँखें कमजोर हो चलीं। नाहरसिंह फिर मेरे पास आया और बोला, "मुझसे अब यह गलीचे का काम नहीं होगा, कुछ और काम दीजिये। आँखें काम नहीं दे रही हैं, और बुढ़ापे की कमज़ोरी भी आ रही है।"

चिड़ावा जानेवाली सड़क के दोनों ओर मैंने वृक्ष लगवाये थे। ऊँट और गायें उन्हें बीच-बीच में खाकर नुकसान पहुँचाती थीं। इसलिए उनकी रखवाली के लिए एक चुस्त रक्षक की ज़रूरत थी। मैंने पूछा, "नाहरसिंह, वृक्षों की रखवाली का काम करोगे?" "हाँ, यही तो राजपूत के लायक़ काम है।

अबतक तो आपने मुझे छोटा काम सौंप रक्खा था। राजपूतों का काम तो रक्षा करना है, और वह मुझे पसन्द है।"

दूसरे दिन नाहरसिंह रखवाली के लिए सजकर आया। अपनी सफ़ेद दाढ़ी पर कलप चढ़ा ली और वही पुरानी साँग और बर्छी, पीठ पर ढाल, कमर में तलवार और कटार लटकाकर खासा अच्छा साफा बाँधकर वह हाज़िर हुआ। देखता हूँ, साथ में एक टट्टू भी लाया। मैंने पूछा—"यह क्या है?" "यह टट्टू मैंने बारह रुपए में खरीदा है। बिना सवारी के राजपूत शोभता नहीं।"

दूसरे दिन टट्टू पर चढ़कर नाहरसिंह रणबाँका राजपूत बनकर रखवाली के लिए सफर पर निकला। टट्टू पूरा टींघण था, इसलिए नाहरसिंह जब सवार होता तो उसके पाँव क़रीब-क़रीब ज़मीन को छू जाते थे। लोग हँसकर मुँह फेर लेते थे, क्योंकि नाहरसिंह के मुँह के सामने हँसना अब भी खतरनाक था।

नाहरसिंह के संसार की गाड़ी इस तरह चलती जाती थी, और वह बुड्ढा भी होता जा रहा था।

पर इसी बीच में एक अद्भुत घटना घट गई। नाहरसिंह पर इश्क का भूत सवार हो गया—"सारे आजारों से बढ़कर इश्क का आजार है।" नाहरसिंह भी इस आजार के सपाटे में आ गया। एक जाटनी थी। वह भी अपने पति की हत्या करके नाहरसिंह की तरह जयपुर-जेल में जनम-क़ैद काट कर आई थी। नाहरसिंह को अपने लिए एक साथी की आवश्यकता महसूस होती थी, और जब यह जाटनी मिली तो उसे

वह जोड़ी पसन्द आ गई। नाहरसिंह ने झटपट उससे शादी कर ली। जाटनी नाहरसिंह से उमर में छोटी थी, पर गुणों में उससे पूरा मुक़ाबला करने वाली थी। शादी के कुछ दिनों बाद ही उस जाटनी के पराक्रम का नाहरसिंह को पता चल गया। जाटनी ने नाहरसिंह को पीटना शुरू कर दिया। वह 'नाहर' और 'सिंह', जिसका गाँव में तहलका था, अब उस जाटनी के सामने भीगी बिल्ली हो गया। नाहरसिंह घर के बाहर तो अब भी शेर था, पर घर के भीतर था पूरा बिल्ली। नाहरसिंह को जो तनख्वाह मिलती, वह सारी-की-सारी जाटनी अपने पल्ले में बाँध लेती थी। नाहरसिंह सिवा खाने-पीने के नक़द से पूरा वंचित हो गया।

जरदार मरद नाहर घर रहो या बाहर;
बेजर का मरद बिल्ली, घर रहो या दिल्ली।

नाहरसिंह 'बेज़र' हो गया और बिल्ली भी हो गया। पर नाहरसिंह की शान और शौक़त घर के बाहर वही थी, जो पहले थी। उसमें कोई भी कमी नहीं हुई। अब नाहरसिंह और बुड्ढा हो चला। एक दिन आकर बोला—"सरकार, अब तो पेंशन कर दीजिये। घोड़े पर अब नहीं चढ़ा जाता।" मैंने कहा—"अच्छा, पेंशन ले लो और 'राम-राम' करते रहो!"

नाहरसिंह अब पेंशन से जीवन व्यतीत कर रहा है। ८६ साल का हो गया है। जब-जब पिलानी जाता हूँ, नाहरसिंह मुजरा करने आता है। वही दाढ़ी और मूँछों की सजावट, वही ढाल, तलवार, कटार, वही साँग और बर्छी। केवल एक

परिवर्तन हुआ है। नाहरसिंह के एक हाथ में बर्छी है, तो एक हाथ में माला—वह एक तरफ अपनी शान की अकड़ निभाता है, और दूसरी ओर 'राम-राम' भी जपता रहता है।

नाहरसिंह एक अविस्मरणीय व्यक्ति है, जिसे भूलना असम्भव है।

: १४ :

मुझसे सब अच्छे

मुझे सवेरे टहलने की आदत है। प्रातःकाल की शुद्ध हवा मनुष्यों को नया जीवन देती है। जब-जब मैं घरपर रहता हूँ, सवेरे का भ्रमण एक प्रकार का नियम-सा हो गया है। एक रोज़ सवेरे टहलने निकला तो वायु की परमार्थ-वृत्ति पर विचार करने लगा।

पश्चिमी हवा चल रही थी। मैंने सोचा, यह वायु कितने परिश्रम के बाद यहाँ पहुँची होगी। कहाँ से चली, कितना उपकार किया, इसका अन्दाज़ा कौन लगाये! भारत का पश्चिमी सागर यहाँ से क़रीब ६०० मील होगा, किन्तु इसके आगे अफ्रीका तक केवल निर्जन समुद्र ही समुद्र है। सम्भवतः उससे भी पश्चिम और पश्चिमतर के प्रदेशों, पहाड़ियों, नदियों, समुद्रों, मनुष्यों, जीव-जन्तुओं को जीवन देती हुई यह वायु यहाँ पहुँची होगी, और अब यहाँ के लोगों को सुख देती हुई, अपने कर्तव्य-पालन के लिए, शान्त भाव से पूर्व प्रदेशों की ओर अग्रसर होगी।

मैंने सोचा, यह हवा इतनी सेवा करती है, फिर भी अख़-बारों में इसकी चर्चा क्यों नहीं होती! हवा से मैंने कहा—"हवा, तुम संसार का इतना उपकार करती हो, किन्तु तुम्हारी सेवा की ख़बर मैं अख़बारों में तो कभी नहीं पढ़ता!

तुमको चाहिए कि जो थोड़ी-सी बात करो, उसको बढ़ा-चढ़ाकर अख़बारों में छपा दिया करो।" हवा ने कहा—"कौन-सा अख़बार अच्छा है?" मैंने कहा—"हिन्दी-अंग्रेजी के बहुत से अख़बार हैं। सभी में अपनी प्रशंसा छपाया करो।" हवा ने पूछा, "क्या सूर्यलोक एवं चन्द्रलोक में भी तुम्हारे यहाँ के अख़बार जाते हैं?" मैंने कहा—"वहाँ तो नहीं जाते।"

हवा ने मेरी मूर्खता पर हँस दिया और कहा—"तुम पक्के कूप-मंडूक हो, तुम्हारे लिए थोड़े-से लोग ही ब्रह्माण्ड हैं। मैंने तो प्राणि-मात्र की सेवा का व्रत ले रक्खा है, और मेरा अख़-बार है मेरे ईश्वर का हृदय। वहाँ सब ख़बरें अपने-आप पहुँचती हैं—भली-बुरी सभी बातें वहाँ छपती रहती हैं। किसी बात का वहाँ पक्षपात नहीं। किसीके कहने से वहाँ कोई ख़बर नहीं छापी जाती। सच्ची ख़बरें वहाँ स्वयं छप जाती हैं। मैं तुम्हारी तरह मूर्ख नहीं, जो विज्ञापनबाज़ी की दलदल में फँस जाऊँ। निःस्वार्थ भाव से प्राणि-मात्र की सेवा करना, यही मेरा धर्म है और मेरे स्वामी को भी यही प्रिय है। अच्छा हो, तुम भी मेरा अनुकरण करो।"

हवा-की यह स्पष्टोक्ति मुझे बड़ी बुरी लगी। मैं, और हवा जैसी जड़वस्तु का अनुकरण करूँ! मन में आया कि एक व्याख्यान ही झाड़ दूँ। अख़बारों में तो उसका अतिरंजित विवरण छप ही जायगा। किन्तु हवा को तो "लगन लागी प्रभु पावन की," उसे मेरा व्याख्यान सुनने की फुरसत कहाँ! वह तो 'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामर्तिनाशनम्' गाती हुई शीघ्रता से चल निकली।

तब मैंने अपना सारा गुस्सा एक ऊँट पर उतार दिया। बात यह हुई कि रास्ते में एक ऊँट महाशय अपनी थकान उतारने के लिए हाथ-पाँव पीट-पीटकर धूल उछाल रहे थे। मैंने गर्द से तंग आकर, क्रोध में, ऊँट से कहा—"तुम बड़े गँवार हो, ज़रा भी तमीज़ नहीं। पशु ही जो ठहरे! हम लोग जिन रास्तों से होकर निकलते हैं, उनमें ग़रीब मनुष्य भी किनारे खड़े होकर झुककर हमें प्रणाम किया करते हैं। हम जब-जब टहलने जाते हैं तब-तब हमारे लठैत नौकर रास्ते में चलनेवालों का नाकोंदम कर देते हैं। तुमने हमें झुककर प्रणाम करना तो दूर रहा, उलटा धूल उछालना शुरू कर दिया! इसीसे मालूम होता है कि तुम गँवार भी हो और धृष्ट भी।"

इस पर ऊँट ने अपना व्यायाम करना तो बन्द कर दिया, पर वह मेरी बात सुनकर खिल-खिलाकर हँस पड़ा। बोला—"तुम मूर्ख तो हो ही, किन्तु अभिमानी भी हो। अभी तो तुम पवन को उपदेश देने की धृष्टता कर रहे थे। पवन तो आदर्श सेवक है, ईश्वर-भक्त है, उसने तुम्हें कुछ नहीं कहा, किन्तु मुझे उपदेश देने की धृष्टता मत करना! बस, यह समझ लो कि मुझसे तुम बहुत गये-बीते हो।" मैंने कहा—"ऊँट, तू पशु होकर मनुष्य को उपदेश देने चला है! मुझे तेरी बुद्धि पर तरस आता है।" ऊँट की मुखाकृति गम्भीर हो उठी, आँखों में तेज चमकने लगा। अपने नथनों को फटकार कर उसने कहा, "क्या केवल मनुष्य-देह मिलने ही से मनुष्य अपने को मनुष्य कहने का अधिकारी हो जाता है? क्या औरंगज़ेब, नादिरशाह, महमूद ग़ज़नी, हत्यारा अब्दुर्रशीद या कंस, दुर्योधन

और ऐसे-ऐसे अनेक अपनेको मनुष्य कहने के अधिकारी हो सकते हैं ? और उन्हें मनुष्य-देह मिल गई, इसी बित्ते पर क्या वे अपनेको हम पशुओं से ऊँचा समझते हैं ? यदि तुम भी ऐसा मानते हो तो तुम्हारी बुद्धि को हज़ार बार धिक्कार है।"

मैं कुछ ठण्डा पड़ गया। मैंने कहा—"भाई ऊँट, उन पापी मनुष्यों की बात न करो। वे नर-राक्षस थे, किन्तु मैं तो ऐसा नहीं हूँ। मैं तो अपने लिए कह सकता हूँ कि अपनी समझ में, मैं तुमसे कहीं अच्छा हूँ।" ऊँट फिर हँस पड़ा। कहने लगा, "अच्छा, ज़रा बता तो दो, तुममें मुझसे कौन-सी अच्छी बात है ?"

मैं सोचने लगा, क्या बताऊँ ? आखिर मुझमें कौन-कौनसी अच्छी बात हैं, जिसका मैं गर्व कर सकूँ ? अत्यंत साहस करके मैंने दबी ज़बान से कहा, "अच्छा तो देखो, तुम जानते हो मैं त्यागी लोगों से कितना प्रेम करता हूँ, खादी पहनता हूँ, यह क्या कुछ कम है ?" ऊँट ने गर्व के साथ कहा, "इसमें गर्व करने की क्या बात है ? मुझे देखो, मैं तो कुछ भी नहीं पहनता।" मैंने कहा, "और सुनो, मैं भोजन भी सादा खाता हूँ, मिर्च-मसाले नहीं खाता।" ऊँट ने कहा, "अच्छा त्याग किया ! मुझे तो देखो, केवल सूखी पत्तियाँ चबाकर रह जाता हूँ।" मैंने कहा, "मैंने तो गृहस्थाश्रम का भी त्याग कर दिया है।" ऊँट ने कहा, "क्यों झूठा अभिमान करते हो ? मैंने तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश ही नहीं किया, सो मैं तो बाल-ब्रह्मचारी हूँ।" मैंने कहा, "मुझमें ईर्ष्या-द्वेष अधिक नहीं, झूठ बहुत कम बोलता हूँ, सो भी अनजान में, रोष भी कम आता है।" ऊँट

ने कहा, "इसमें कौनसी बड़ाई की बात है ? मुझमें न ईर्ष्या है, न द्वेष, और न क्रोध, झूठ तो जीवन में कभी बोला ही नहीं।"

मैंने कहा, "मुझमें सेवावृत्ति है।" ऊँट ने कहा, "इसका नमूना तो हम रोज़ देखते हैं। कल एक पीला बछड़ा रो रहा था, क्योंकि उसकी माँ का दूध नित्य-प्रति तुम पी लेते हो। बछड़ा तृण खाकर जीवन-निर्वाह करता है। उस दिन, सुनते हैं, तुमने एक घोड़े को भी दौड़ कराकर मार डाला। शहर के तमाम घोड़ों में इस बात की चर्चा थी। उनकी एक विराट् सभा हुई थी, उसमें मृतक के प्रति सहानुभूति और तुम्हारे प्रति घृणा-सूचक प्रस्ताव भी पास किये गए थे। न मालूम इस प्रकार तुमने कितने ऊँट, घोड़े और बैलों को कष्ट दिया है। कितने पशुओं को लँगड़ा किया है। कितनों को अपनी मोटर के धक्कों से गिराया है। अच्छा सेवा का दम भरने चले हो ! मुझे देखो, न कपड़े पहनता हूँ और न जिह्वा-स्वाद का नाम-मात्र भी सम्बन्ध है। केवल सूखे तृण खाता हूँ, फिर भी बेंत, कोड़े और ठोकरें खाता हुआ नम्रतापूर्वक तुम लोगों की सेवा करता हूँ। इसीको सेवा-व्रत कहते हैं। तुम लोगों से सेवा कैसे सम्भव है ? पहनने के लिए तुमको क़ीमती वस्त्र चाहिए, खाने के लिए सुस्वादु भोजन, सेवा के लिए नौकर, रहने के लिए महल; टहलने के लिए अच्छे वाहन या मोटर, सफ़र करते हो तो मनों सामान एवं सुख-सुविधा की सामग्रियाँ साथ चलती हैं और तुम्हारे लिए बोझा ढोना पड़ता है हमको। अकाल पड़ता है तो हम लोग भूखों मरते हैं, पीने को पानी नहीं

मिलता, किन्तु तुम्हारे बग़ीचों की फुलवाड़ी को सरसब्ज़ रखने में ही गाँव के अनेक बैलों की शान्ति नष्ट हो जाती है। हम लोग प्रायः ब्रह्मचारी रहते हैं, किन्तु सुनते हैं, तुम्हारा मनुष्य-समाज इसमें बड़ा पतित है। शर्म की बात है कि इस पर भी तुम अपनेको हमसे श्रेष्ठ समझो!"

ऊँट की बात मेरे हृदय में चुभ गई। मुझे ग्लानि होने लगी। अन्तरात्मा कहने लगी, "मूर्ख, तू ऊँट से भी गया-बीता है।" पास में खड़े हुए करील के वृक्ष ने सिर हिलाकर कहा, "ऊँट सच कहता है।" तब मैंने कहा—"प्रभो, मुझे ऊँट जितना आत्म-बल दो!"

सहसा आकाश में बिजली चमकी। मेघ गरजा। सुनने वालों ने सुना। कहनेवालों ने कहा:

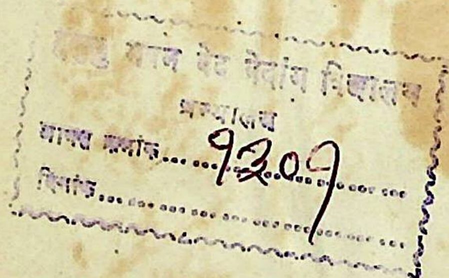
मो सम कौन कुटिल खल कामी!
जेहि तन दियो ताहि बिसरायो,
ऐसो निमकहरामी।
मो सम कौन कुटिल खल कामी!

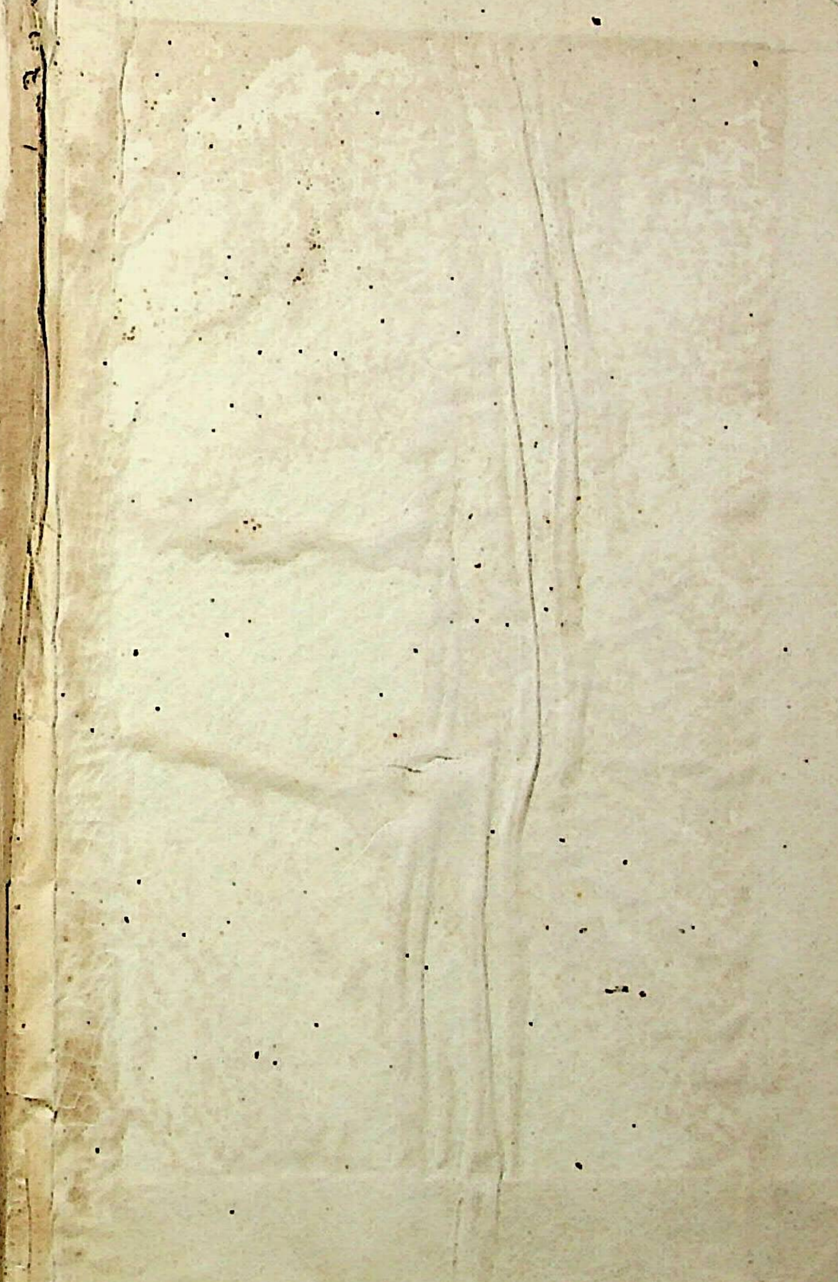
किसीने कहा, कहनेवाला और सुननेवाला दोनों एक हैं। किसीने कहा, यह अन्तर्नाद है। मैंने चिल्लाकर कहा, "मुझसे सब अच्छे हैं!"

मार्गशीर्ष, १९८४

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
आगत क्रमांक........ 2008....
दिनांक..............

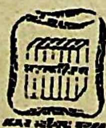



ग्रन्थालय
ग्रन्थ क्रमांक 9209
दिनांक



लेखक की अन्य पुस्तकें

१. बापू
२. गांधीजी की छत्रछाया में
३. डायरी के पन्ने
४. श्री जमनालालजी
५. रूप और स्वरूप
६. ध्रुवोपाख्यान



तीन रुपये